॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता सार

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठा.
ेंके प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजी
के अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी
श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजी
के श्रीमुखनिःसृत अमृतमय वाणीसे सङ्कलित

मासिक श्रीश्रीभागवत पत्रिका

स्थायी लेख—श्रील भक्तिविनोद ठाकुर, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद', श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी, श्रील भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी और श्रील भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामीका उपदेशामृत।

श्रीभागवत, श्रीचैतन्यचरितामृत, गीता आदिसे सुसिद्धान्तपूर्ण लेख, अन्य शिक्षाप्रद कथाएँ, विश्वभरमें प्रचारका विवरण और मासिक व्रत-तालिका।

अपने घर डाक द्वारा पत्रिका प्राप्त करनेका सदस्यता शुल्कः—

एक वर्ष — 300 रुपये [सन् 2011-2012 (विशेषाङ्क)]

पाँच वर्ष — 550 रुपये

आजीवन — 3000 रुपये

संरक्षक — 6000 रुपये

सदस्य बननेके लिये सम्पर्क करें—

फोन अथवा SMS — (0)8791273306

email : mathuramath@gmail.com or vijaykrsnadas@gmail.com

website : www.purebhakti.com

प्रकाशक — श्रीमान् गोकुलचन्द्र दास

चतुर्थ संशोधित संस्करण — 5000 प्रतियाँ

गुरु-पूर्णिमा, 15 जुलाई, 2011

प्रिन्टर — सम्राट ऑफसेट प्रा॰ लि॰, ओखला, दिल्ली।

विषय सूची

प्रस्तावना .... i-ii

प्रथम परिच्छेद 1–8

- महाभारत युद्धकी पृष्ठभूमि 1
- गीता 3
- अर्जुनका मोह और गीताका साधारण उपदेश 4

द्वितीय परिच्छेद 9–19

- कर्मयोग 12
- ज्ञानयोग 14
- कर्मसंन्यासयोग 17
- ध्यानयोग 18
- भक्तियोग 18

तृतीय परिच्छेद 20–30

- गुह्य उपदेश 20
- गुह्यतर उपदेश 21
- गुह्यतम उपदेश 22
- सर्वगुह्यतम उपदेश 24
- मां नमस्कुरु 25
- मद्याजी 26

चतुर्थ परिच्छेद 31–44

- मद्भक्तो 31
- बिल्वमङ्गल ठाकुर 31
- ब्राह्मण अर्जुन मिश्र 34
- भक्ति—वैधी और रागानुगा 38
- श्रीरघुनाथदास गोस्वामी 41

पञ्चम परिच्छेद 45–49

- मन्मना भव 45
- व्रजकी नवेली वधु 45

भारतमें शुद्ध कृष्णभक्ति प्रचार केन्द्र सूची एवं ग्रन्थ प्राप्ति स्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ–जवाहर हाट, **मथुरा** (0565) 2502334
श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ–दान गली, **वृन्दावन** (0565) 2443270
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ–कोलेरडाङ्गा लेन, **नवद्वीप** (0) 9333222775
श्रीदुर्वासा ऋषि गौड़ीय आश्रम–ईशापुर, **मथुरा** (0) 9997543173
श्रीदाऊजी गौड़ीय मठ–कैलाश मार्ग, पो.बलदेव, **मथुरा** (05661) 253165
श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ–दसविसा, राधाकुण्ड रोड, **गोवर्धन** (0565) 2815668
श्रीरमणविहारी गौड़ीय मठ–ब्लाक-बी३ए, जनकपुरी, **दिल्ली** (011) 25533568
श्रीदामोदर गौड़ीय मठ–चक्रतीर्थ, **पुरी** (06752) 229695
श्रीराधामाधव गौड़ीय मठ–1469, सैक्टर-16, **फरीदाबाद** (0129) 4142904
श्रीगौरगोविन्द गौड़ीय आश्रम–1462, आइ.आर.सी.विलेज, **भुवनेश्वर** (0674) 2556186
श्रीआनन्दधाम गौड़ीय आश्रम–परिक्रमा मार्ग, रमणरेती, **वृन्दावन** (0565) 2540849
श्रीराधागोविन्द गौड़ीय मठ–डी-5, सैक्टर 55, **नोएडा**, उ.प्र. (0120) 2582018
श्रीवामन गोस्वामी गौड़ीय मठ–39, रामानन्द चटर्जी स्ट्रीट, **कोलकाता** (033) 23510369
श्रीरङ्गनाथ गौड़ीय मठ–सर्वे-26, हेसेरघट्टा, नृत्यग्राम कुटीरके पास, **बङ्गलोर** (080) 28466760
श्रीश्रीगोविन्दजी गौड़ीय मठ–मकान-2, गली-5, रूपनगर एन्क्लेव, **जम्मू** (0) 9906904809
श्रीराधामाधवजी गौड़ीय मठ–माधवी कुञ्ज, भूपतवाला, **हरिद्वार** (01334) 260845

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद्गीताको गीतोपनिषद् भी कहा जाता है। यह समग्र वैदिक ज्ञानका सार है और वैदिक साहित्यका सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपनिषद् है। जो लोग साधु–गुरु–वैष्णवोंका चरणाश्रयकर श्रद्धापूर्वक इस ग्रन्थका अनुशीलन करेंगे, वे अनायास ही यथार्थ तात्पर्य अनुधावन कर सकेंगे और वे सहज–सरल रूपमें भवसागरको पारकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें पराभक्ति लाभकर कृष्ण–प्रेमके अधिकारी बन सकेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

आजकल भारतके बड़े–बड़े मनीषियों और प्रवीण व्यक्तियोंको इस ग्रन्थका आदर करते हुए देखा जाता है। यहाँ तक कि सर्वसम्प्रदायके लोग इस ग्रन्थराजके प्रति आदर और श्रद्धा प्रदर्शन करते हैं। बहुतसे प्रसिद्ध राजनैतिक व्यक्तियोंने भी इस ग्रन्थके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की है। यहाँ तक कि विश्वके सभी देशोंके मनीषियोंने इस ग्रन्थकी भू. रि–भूरि प्रशंसा की है।

श्रीगीताशास्त्रके पाठकोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है, स्थूलदर्शी और सूक्ष्मदर्शी। स्थूलदर्शी पाठक केवल वाक्योंके बाह्य अर्थको ही ग्रहणकर सिद्धान्त किया करते हैं, परन्तु सूक्ष्मदर्शी पाठ. कगण शास्त्रके बाह्य अर्थसे सन्तुष्ट न होकर गम्भीर तात्त्विक अर्थका अनुसन्धान करते हैं। स्थूलदर्शी पाठकगण आदिसे अन्त तक गीताका पाठकर यह सिद्धान्त ग्रहण करते हैं कि कर्म ही गीताका प्रतिपाद्य विषय है, क्योंकि अर्जुनने सम्पूर्ण गीता सुनकर अन्तमें युद्ध करना ही श्रेयस्कर समझा।

सूक्ष्मदर्शी पाठकगण वैसे स्थूल सिद्धान्तसे सन्तुष्ट नहीं होते। वे या तो ब्रह्मज्ञानको अथवा पराभक्तिको ही गीताका तात्पर्य स्थिर करते हैं। उनका कहना यह है कि अर्जुनका युद्ध अङ्गीकार करना अधि ाकार– निष्ठाका उदाहरण मात्र है, वह गीताका चरम तात्पर्य नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीताके तात्पर्य अर्थात् उसके चरम प्रतिपाद्य विषयको समझनेके लिये इसके वक्ताके द्वारा दिये गये निर्देशोंको ग्रहण करना चाहिये। गीताके वक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। गीताके प्रत्येक पृष्ठमें

उनका उल्लेख भगवान्‌के रूपमें हुआ है। श्रीकृष्णने स्वयं अहैतुकी कृपावशतः बहुतसे स्थलोंमें अपनेको परात्पर तत्त्व भगवान् बतलाया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ (गीता १०/८)

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (गीता ७/७)

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ (गीता ९/२४)

अन्यान्य भगवदवतारोंने अपनी भगवत्ताका स्पष्ट परिचय स्वयं नहीं दिया है, किन्तु गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही सुस्पष्ट रूपमें अपनी भगवत्ताका परिचय देकर अपनी शरणागति और भक्तिको ही जीवोंके लिये सर्वोत्तम साधन निर्दिष्ट किया है। भक्ति ही गीताका चरम प्रतिपाद्य विषय है, इसे स्वयं श्रीकृष्णने ही प्रतिपादित किया है।

ग्रन्थके अनुवाद कार्यके लिये बेटी जानकी दासी, सम्पादन कार्यके लिये श्रीमान् गोकुलचन्द्र दास, प्रूफ संशोधनके लिये श्रीओमप्रकाश व्र. जवासी और श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराजकी सेवाचेष्टा सराहनीय है। ग्रन्थके लिये चित्र प्रस्तुत करनेमें श्रीयुता श्यामरानी दासीकी सेवाचेष्टा सराहनीय है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी इन सबपर प्रचुर कृपाशीर्वाद करें।

अन्तमें भगवत्करुणाके घनविग्रह परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज मेरे प्रति प्रचुर कृपाशीर्वाद वर्षण करें जिससे मैं दीन-हीन सेवक उनकी मनोऽभीष्ट सेवामें अधिकाधिक अधिकार प्राप्त कर सकूँ, यही उनके चरणोंमें सकातर प्रार्थना है।

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
गोवर्धन, जिला मथुरा (उ.प्र.)
अन्नकूट महोत्सव
२ नवम्बर, २००५

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
दीन-हीन
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

प्रथम परिच्छेद

महाभारत युद्धकी पृष्ठभूमि

कुरुवंशके महाराज शान्तनुकी पत्नी गङ्गादेवीके गर्भसे भीष्मका जन्म हुआ था, किन्तु बालकके जन्मके अनन्तर किसी विशेष कारणसे वे अन्तर्हित हो गईं। महाराज शान्तनुने किसी समय आखेट करते हुए निषादराजके घर एक अपूर्व रूपवती राजकन्या सत्यवतीको देखा। महाराजने निषादराजसे अपने विवाहके लिये उस राजकन्याको माँगा। किन्तु निषादराजने विवाहके लिये एक प्रतिबन्ध रखा कि सत्यवतीका पुत्र ही राजा होगा। महाराजने इसे स्वीकार नहीं किया और वे राजधानी लौट आये। यह बात किसी प्रकार युवराज भीष्मके कानोंमें पड़ी और उन्होंने यह भीषण प्रतिज्ञाकी कि सत्यवतीका पुत्र ही राजा होगा तथा मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा। इस प्रकार उन्होंने सत्यवतीका विवाह अपने पिता शान्तनुके साथ करवाया। इस भीषण प्रतिज्ञाके लिये इनके पिताजीने इनको इच्छामृत्युका वरदान दिया था।

सत्यवतीके गर्भसे महाराज शान्तनुके दो पुत्र हुए—चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य। महाराज शान्तनुकी मृत्युके पश्चात् चित्राङ्गद राजा बने, किन्तु इनकी असामयिक मृत्युसे विचित्रवीर्यको राज्यपद दिया गया। इनकी दो पत्नियाँ थीं—अम्बिका और अम्बालिका। किन्तु निःसन्तान दशामें विचित्रवीर्यकी भी असामयिक मृत्यु हो गई। पुत्रोंके शोकमें माता सत्यवती बड़ी दुःखी हो गईं। इन्होंने वंशकी रक्षाके लिये अपने प्रथम पुत्र महर्षि वेदव्यासका स्मरण किया। वेदव्यासजीने माता सत्यवतीकी आज्ञा तथा भीष्मका अनुमोदन जानकर विचित्रवीर्यकी पत्नी अम्बिकासे धृतराष्ट्र, अम्बालिकासे महाराज पाण्डु तथा उनकी दासीके गर्भसे महात्मा विदुरजीको उत्पन्न किया।

धृतराष्ट्रके जन्मान्ध होनेके कारण पाण्डु ही राजसिंहासनपर बैठे। महाराज पाण्डुके पाँच पुत्र हुए। जिनमें ज्येष्ठ पुत्रका नाम युधिष्ठिर था। धृतराष्ट्रके एक सौ पुत्रोंमें दुर्योधन सबसे बड़ा था। कालकी गतिसे राजकुमारोंकी छोटी आयुमें ही महाराज पाण्डुकी मृत्यु हो गई। अतः

भीष्म पितामहने राजकुमारोंके बड़े होने तक धृतराष्ट्रको ही राज्य-सं. रक्षकके रूपमें राजसिंहासनका दायित्व सौंप दिया। जब पाँचों पाण्डव और धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि पुत्र युवावस्थाको प्राप्त हुए, तब राजगद्दीका प्रश्न उठा। महाराज धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके प्रति पक्षपाती थे। वे छल-बलसे दुर्योधनको ही राज्यपदपर अभिसिक्त करना चाहते थे। किन्तु भीष्म पितामह जैसे परम धार्मिक, पूज्य व्यक्तियों और प्रजाओंके दबावके कारण वे ऐसा नहीं कर सके। उन्होंने बाह्यरूपसे युधिष्ठिरको आधे राज्यके राजाके रूपमें नवनिर्मित वारणावत नगरमें भेजकर उन्हें जलाकर मारनेका षड़यन्त्र रचा, परन्तु पाण्डव किसी प्रकार बच निकले।

इसके कुछ समय बाद पाण्डवोंका द्रौपदीसे विवाह हुआ। पाण्डव अभी जीवित हैं, यह जानकर भीष्म पितामहके आदेशसे उन्हें इन्द्रप्रस्थ नामक स्थानका राजत्व सौंप दिया। पाण्डवोंने वहाँ श्रीकृष्णकी सहायतासे मयदानवके द्वारा एक अद्भुत सुन्दर नगरी और राजभवनका निर्माण करवाया। कुछ ही दिनोंमें पाण्डवोंने भारतवर्षके बड़े-बड़े राजाओंको जीतकर एक 'महाराजसूय' यज्ञका अनुष्ठान किया।

महाराज धृतराष्ट्र और दुर्योधन आदि पाण्डवोंके राजसूय यज्ञको देख-सुनकर ईर्ष्यासे जल उठे। उन्होंने पुनः षड़यन्त्रकर कपटतापूर्वक द्यूत क्रीड़ामें पाण्डवोंका राज्य ले लिया तथा उन्हें बारह वर्षके लिये वनवास और एक वर्षके अज्ञातवासके लिये बाध्य किया। किन्तु, वह समय पूरा होनेपर भी पाण्डवोंको उनका राज्य नहीं लौटाया गया। औरोंकी तो बात ही क्या, भगवान् श्रीकृष्ण भी पाण्डवोंका दूत बनकर हस्तिनापुरमें गये, किन्तु दुर्योधन अपनी हठपर अड़ा रहा। उसने पाँच गाँवकी तो बात ही क्या, बिना युद्धके सुईकी नोक भर भी जमीन देना स्वीकार नहीं किया। इसलिये युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

युद्धके लिये कुरुक्षेत्रको ही क्यों चुना गया, इसका एक कारण है। व्यासजीने युद्धस्थल कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र कहा है। श्रीमद्भागवत (९/२२/४)के अनुसार कुरुराजके नामपर इस क्षेत्रका नाम कुरुक्षेत्र हुआ। महाभारतमें शल्यपर्वके अनुसार महाराज कुरु किसी समय इस क्षेत्रको हलसे जोत रहे थे, उस समय देवराज इन्द्रने उपस्थित होकर उनसे पूछा—"तुम किसलिये ऐसा कर रहे हो?" कुरुराजने उत्तर दिया—"मैं

चाहता हूँ कि जो लोग इस क्षेत्रमें देहत्याग करें, उन्हें स्वर्गलोककी प्राप्ति हो।" ऐसा सुनकर देवराजने उनका उपहास किया और स्वर्गलोक लौट गये। महाराज कुरु पुनः बड़े उत्साहसे हल चलाने लगे। इन्द्र पुनः पुनः उनके समीप आकर उनका उपहास करते और चले जाते। अन्तमें अन्य देवताओंके परामर्शसे देवराजने प्रसन्न होकर कुरुराजको यह वर दिया कि जो भी इस क्षेत्रमें देह त्याग करेंगे अथवा युद्धमें मारे जायेंगे, उन्हें अवश्य ही स्वर्गकी प्राप्ति होगी।

जावालोपनिषद् (१/२)में भी कुरुक्षेत्रको देवताओंकी यज्ञस्थली और सभी प्राणियोंके लिये यज्ञका स्थान बतलाया गया है। यहाँ यज्ञ करनेसे स्वर्गलोक और ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। सत्पथ ब्राह्मणमें भी *'कुरुक्षेत्रं देवयजनमास। तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवयजनम्'* कहा गया है। इसलिये युद्धके लिये इस धर्मक्षेत्रका चयन किया गया।

गीता

श्रीवेदव्यासके द्वारा रचित विशाल 'महाभारत' ग्रन्थके अन्तर्गत भीष्मपर्वके २५वें अध्यायसे ४२वें अध्याय तक अठारह अध्यायोंमें गीता ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ है। हम जैसे संसारकी मायामें बन्धे जीवोंको मायामोहसे छुड़ानेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रिय सखा अर्जुनके द्वारा मायामुग्ध होनेका अभिनय करवाया। उनके द्वारा मो. हग्रस्त जीवोंके अनुसार प्रश्न करवाकर स्वयं उन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए, सभी प्रकारकी शङ्काओंको दूरकर क्रमानुसार जीवोंके मायामोहको दूर करके भवसागरसे पार कराके अपने चरणकमलोंकी प्राप्तिका मार्ग दिखलाया है। वास्तवमें अर्जुन भगवान्के नित्यपार्षद* हैं, इसलिये उन्हें शोक, मोह होनेका प्रश्न ही नहीं उठता है। किन्तु जीवोंका कल्याण करनेके लिये किसी एक दयालु और महान व्यक्तिको ही निमित्त बनाकर जीवोंके हितके लिये उपदेश दिया जाता है। शास्त्रोंमें सर्वत्र ही यही नीति दिखलायी देती है। गीताका यह ज्ञान समस्त वेदों, उपनिषदों और पुराणोंका सार है।

गीताके ज्ञानको सुगम और सभीके लिये बोधगम्य बनानेके लिये

---

*नित्यपार्षद—भगवान्के धाममें सदा उनके सङ्गमें रहनेवाले।

हमारे पूर्व आचार्योंने इसे पाँच भागोंमें बाँट दिया है—

1. **सभीके लिये साधारण उपदेश ।**
2. **गुह्य (गूढ़) उपदेश।**
3. **गुह्यतर (अधिक गूढ़) उपदेश।**
4. **गुह्यतम (अत्यधिक गूढ़) उपदेश।**
5. **सर्व-गुह्यतम (सबसे गूढ़) उपदेश।**

ये उपदेश गीतामें विस्तृत रूपसे क्रमानुसार नहीं दिये गये हैं, अपितु सूत्र रूपमें हैं।

अर्जुनका मोह और गीताका साधारण उपदेश

युद्ध आरम्भ होनेसे पूर्व अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे अपने रथको दोनों सेनाओंके मध्य ले जानेके लिये कहा, जिससे वे कौरवोंकी सेनाके योद्धाओंको देख सकें। कौरवोंकी सेनामें अपने ही स्वजनोंको देखकर अर्जुन बहुत दुःखी हो गये और वे श्रीकृष्णसे कहने लगे— "हे कृष्ण! विपक्ष सेनामें अपने स्वजनोंको देखकर मेरे सभी अङ्ग शिथिल हो रहे हैं और मुख भी सूखा जा रहा है। मेरा शरीर भी काँप रहा है और गाण्डीव भी मेरे हाथोंसे गिर रहा है। मैं केवल अशुभ लक्षणोंको देख रहा हूँ। मैं स्वजनोंको मारकर पृथ्वी तो क्या, तीनों लोकोंका राज्य भी नहीं चाहता हूँ। इन्हें मारनेसे हमें पाप ही लगेगा और स्वजनोंकी हत्या करके हम किस प्रकार सुखी होंगे? युद्धमें इतने सैनिकोंके मरनेपर उनकी स्त्रियाँ विधवा और उनकी सन्तानें अनाथ हो जायेंगी। वे स्त्रियाँ भी आश्रयहीन और चरित्रहीन होकर अवैध सन्तानोंको जन्म देंगी, जिससे धर्मका नाश हो जायेगा। इससे तो अच्छा यह होगा कि अस्त्रविहीन और आत्मरक्षाके लिये चेष्टारहित मुझको वे मार डालें। मैं युद्ध नहीं करूँगा।" यह कहकर अर्जुन रथमें बैठ गये।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—"हे पार्थ! तुम इस प्रकार नपुंसकताको मत प्राप्त होओ, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हृदयकी दुर्बलताका त्यागकर युद्धके लिये खड़े होओ।"

अर्जुनने कहा—"हे मधुसूदन! मैं कैसे अपने पूजनीय भीष्म पितामह और गुरु द्रोणाचार्यके विरुद्ध बाणोंके द्वारा युद्ध करूँगा? मैं कायरताको प्राप्तकर अपने धर्मके विषयमें मोहित हो रहा हूँ। मैं आपका शिष्य

हूँ, कृपया जो मेरे लिये मङ्गलदायक हो, वह उपदेश कीजिये। मैं आपकी शरण ग्रहण करता हूँ।"

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—"तुम नहीं शोक करने योग्य व्यक्तियोंके लिये शोक कर रहे हो, पुनः पाण्डित्यपूर्ण वचन भी कह रहे हो। किन्तु, पण्डितगण न तो मृत और न ही जीवित व्यक्तियोंके लिये शोक करते हैं। जिस प्रकार शरीरधारी जीवात्मा* इस स्थूल शरीरमें क्रमशः कुमारावस्था, यौवनावस्था और वृद्धावस्था प्राप्त करता है, उसी प्रकार मृत्योपरान्त जीवात्माको अन्य शरीर प्राप्त होता है। अतः धीर व्यक्ति शरीरके नाश और उत्पत्तिके विषयमें मोहित नहीं होते हैं। यह जीवात्मा कभी भी न तो जन्म लेता है और न ही कभी मरता है अथवा बार-बार इसकी उत्पत्ति या वृद्धि नहीं होती है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और प्राचीन होनेपर भी नित्य नवीन है। शरीरके नष्ट होनेपर भी इसका विनाश नहीं होता है। इस जीवात्माको न शस्त्रोंके द्वारा छेदा जा सकता है, न ही आगके द्वारा जलाया जा सकता है, न ही जलके द्वारा भिगोया जा सकता है और न ही वायुके द्वारा सुखाया जा सकता है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको धारण करता है। जिसने जन्म ग्रहण किया है, उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत व्यक्तिका पुनर्जन्म भी निश्चित है। अतः इस अपरिहार्य (अवश्यम्भावी) विषयमें शोक करना उचित नहीं है। नित्य, अविनाशी और अपरिमेय (जिसे मापा नहीं जा सकता) जीवात्माके ये सब भौतिक शरीर नाशवान कहे गये हैं।"

उदाहरण स्वरूप श्रीमद्भागवतके सातवें स्कन्धमें उशीनर देशमें सुयज्ञ नामके राजाकी कथाका यहाँ वर्णन किया जा रहा है। राजा सुयज्ञ युद्धमें मारे गये और उनके भाई-बन्धु उनको घेरकर बैठ गये। राज. ाका कवच छिन्न-भिन्न हो गया था, उनके आभूषण टूट गये थे, बाल बिखर गये थे और सारा शरीर खूनसे लथपथ हो गया था। रानियाँ अपने पतिको मृत देखकर छाती पीट-पीटकर रोने लगीं। उनके करुण क्रन्दनको देखकर मन्त्री, प्रजा आदि भी रोने लगे। रानियाँ रोते-रोते ~~कहने लगीं—"हे प्राणनाथ! आप हमें असहाय छोड़कर कहाँ चले गये?~~

*जीवात्मा, जीव, आत्मा और भूत, ये शब्द समान अर्थोंमें प्रयोग होते हैं।

आप हमसे बहुत प्रेम करते थे। हमारी थोड़ीसी भी सेवाको बहुत बड़ा मानते थे। हम तो आपके चरणोंकी दासियाँ हैं। हम आपके बिना जीवित नहीं रह पायेंगी।" इस प्रकार विलाप करते-करते वे उनके शरीरको छोड़ नहीं रही थीं। इतनेमें सूर्यास्त हो गया। उन लोगोंका विलाप सुनकर यमराज एक बालकका रूप धारणकर वहाँ आये। उन्होंने उन लोगोंसे पूछा कि वे क्यों रो रहे हैं? मन्त्रीने कहा कि हमारे राजा चले गये हैं, इसलिये हम सब रो रहे हैं।

बालकने कहा—"आप कह रहे हैं कि राजा चले गये हैं, परन्तु वे तो आपके सामने ही यहाँ रणभूमिमें पड़े हैं।"

मन्त्री बोले—"नहीं, वे चले गये हैं। यह तो उनका शरीर है।"

बालकने पूछा—"आप कह रहे हैं कि यह उनका शरीर है और राजा चले गये हैं, तो क्या आपने इस शरीरमें रहनेवाले राजाको कभी देखा था? वे कैसे थे? लम्बे थे या छोटे थे, काले थे या गोरे थे, पतले थे या मोटे थे? उनका रूप कैसा था?"

मन्त्री विचार करने लगे और कोई उत्तर नहीं दे पाये। तब बालकने कहा—"मूर्खो! तुम जिसके लिये शोक कर रहे हो, वह सुयज्ञ नामका शरीर तो तुम्हारे सामने पड़ा है। वह आत्मा जो इसमें सुनने और बोलनेवाला था, वह तो तुम्हें कभी दिखायी नहीं पड़ता था। आत्मा शरीरसे अत्यन्त भिन्न है, वह इस शरीरमें रहनेपर भी इसके जन्म-मृत्यु आदि विकारोंसे अछूता ही रहता है। जैसे मनुष्य मिट्टी आदिसे बने घरको अपनेसे अलग समझता है, वैसे ही आत्मा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पाँच तत्त्वोंसे बने स्थूल शरीर और मन, बुद्धि और अहङ्कारके सूक्ष्म शरीरसे अलग है। जैसे लकड़ीमें रहनेवाली अग्नि उससे अलग है, जैसे देहमें रहनेपर भी वायुका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे आकाश सब जगह रहनेपर भी किसीसे लिप्त नहीं होता है, वैसे ही शरीरमें रहनेवाला और उसका आश्रय आत्मा भी उससे अलग और निर्लिप्त है। सभी प्राणियोंकी मृत्यु पूर्वजन्मोंके कर्मोंके अनुसार समयपर होती है और उनके अनुसार उनका जन्म भी होता है। इसलिये शरीर और आत्माके तत्त्वको जाननेवाले न तो अनित्य शरीरके लिये शोक करते हैं और न ही नित्य आत्माके लिये। मूर्ख रानियों! एक दिन तुम्हारी भी यही दशा होनेवाली है। तुम्हें अपनी

तो मृत्यु दिखलायी नहीं देती और इनके लिये रो रहीं हो। यदि तुम सौ वर्ष तक भी इस प्रकार छाती पीटकर रोती रहोगी, तो भी तुम्हारे पति लौटकर नहीं आयेंगे।" यह कहकर यमराजजी अन्तर्धान हो गये।

इस प्रकार संसार और इसके सुख-दुःखको अनित्य जानकर हमें अपने कर्त्तव्य कर्मोंको करना चाहिये। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने आगे कहा—"हे अर्जुन! भाग्यशाली क्षत्रिय ही स्वर्गके खुले द्वारके समान ऐसे युद्धके अवसरको अनायास ही प्राप्त करते हैं। यदि तुम युद्धमें मारे जाओगे, तो स्वर्गको प्राप्त करोगे और जीतनेपर पृथ्वीके राज्यको प्राप्त करोगे। दूसरी ओर यदि तुम धर्मयुद्ध नहीं करोगे, तो स्वधर्म और कीर्त्तिको खोकर पापको प्राप्त करोगे। दुर्योधनादि महारथी तुम्हें भयके कारण युद्धसे पलायन करनेवाला कायर कहकर तुम्हारा अपमान करेंगे। सम्मानित व्यक्तिके लिये अपयश तो मरनेकी अपेक्षा भी अधिक कष्टदायक है। अतः हे अर्जुन! तुम युद्ध करो।"

इसलिये हमें संसारमें अपने कर्त्तव्य कर्मोंको करते हुए स्वयंको उसका कारण या अधिकारी नहीं मानना चाहिये। श्रीकृष्णने कहा—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २/४७)

"स्वधर्मविहित कर्म करनेमें तुम्हारा अधिकार है, किन्तु उस कर्मके फलमें तुम्हारा अधिकार नहीं है। तुम स्वयंको न तो कर्मके फलका कारण मानो और न ही कर्मके नहीं करनेमें आसक्त होओ।"

इस प्रकार अनासक्त भावसे स्वधर्मविहित कर्म करते हुए उनके फलको भगवान्‌को समर्पित करते जाना चाहिये। स्वयंको फलका स्वामी (भोक्ता) माननेसे ही व्यक्तिके हृदयमें नाना प्रकारकी दुर्भावनाएँ और दुर्गुण आते हैं। फलमें आसक्तिका त्यागकर निष्काम कर्म करनेसे व्यक्तिका हृदय शुद्ध हो जाता है, तब वह भगवान् और उनकी भक्तिके रहस्यको समझने योग्य होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (गीता ६/१७)

"यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने और जागनेवालेका योग सांसारिक क्लेशोंका हरण करनेवाला होता है।"

इसलिये अधिक आहार नहीं करना चाहिये और अधिक सोना भी नहीं चाहिये। जगत्‌के कार्य और इन्द्रियतृप्तिपर नियन्त्रण रखना चाहिये, अन्यथा उस दुर्लभ योगकी प्राप्ति नहीं होती, जिसमें एक आत्मा अपने सृष्टिकर्त्ताके साथ युक्त होती है। आहार-विहारमें संयम नहीं रखनेसे नाना प्रकारके रोग हो जाते हैं, जिनसे साधनमें विघ्न पड़ता है। इसी प्रकार नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे उद्विग्न चञ्चल मनसे भी साधनकी सिद्धि नहीं होती है।

इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (गीता २/६९)

"साधारण लोगोंके लिये जो रात्रि अर्थात् शयनकाल है, उसमें साधु जाग्रत रहते हैं और जब साधारण लोग जाग्रत रहते हैं, तब साधुके लिये वह रात्रि है।"

इस श्लोकका यह अभिप्राय है कि जब साधारण लोग आत्माकी अनुभूतिके विषयके प्रति सोये रहते हैं, तब साधु उसके प्रति जाग्रत होते हैं और साधारण लोग जब अपनी इन्द्रिय-तृप्तिके भोगोंमें जाग्रत रहते हैं, तब साधु उन विषयोंके प्रति निद्रित होते हैं अर्थात् उनसे उदासीन होते हैं।

साधारण रूपसे भगवान् श्रीकृष्णने यह ज्ञान प्रदान किया कि हम यह शरीर नहीं हैं, हम आत्मा हैं। इसलिये शारीरिक कामनाओंसे पृथक् रहकर उनकी तृप्तिके लिये अधिक प्रयास नहीं करना चाहिये और सुख-दुःखको समान मानकर अपने कर्त्तव्य कर्मको करते जाना चाहिये। अपनेको अर्थात् आत्माको जाननेका प्रयास करना चाहिये और आत्माके कल्याणके लिये ही प्रयत्नशील होना चाहिये। यहाँ तक यह साधारण उपदेश है। गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम और सर्वगुह्यतम उपदेशोंका वर्णन तृतीय परिच्छेदमें किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद

अर्जुन कुरूक्षेत्रमें कौरवों और पाण्डवोंमें होनेवाले युद्धके लिये रणभूमिमें खड़े थे। उसी प्रकार हम भी संसाररूपी युद्धके मैदानमें खड़े हैं और स्वभावतः चञ्चल मनकी वृत्तियोंसे हमारी लड़ाई हो रही है। कौरवोंकी सेना ग्यारह अक्षौहिणी थी और अर्जुनके साथ पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेना थी। हमारे सामने भी ग्यारह इन्द्रिय* रूपी ग्या. रह अक्षौहिणी सेना है और हम नितान्त अकेले हैं। अर्जुनके पास अग्निदेवके द्वारा दिया गया रथ था, जो जलाया या नष्ट नहीं किया जा सकता था, किन्तु हमारा रथ तो मात्र यह रोगग्रस्त और नश्वर भौतिक शरीर है। अर्जुनके रथवाहक भगवान् श्रीकृष्ण थे, परन्तु हमा. री विकृत बुद्धि देहरूपी रथको चला रही है। अर्जुनके पास युद्धके लिये गाण्डीव नामक धनुष था, परन्तु हम तो निहत्थे हैं। अर्जुनके रथध्वजपर श्रीहनुमानजी विराजमान थे। यद्यपि अर्जुनको हर प्रकारकी सहायता उपलब्ध थी, फिर भी उनका मन विचलित हो गया। हम तो सर्वथा असहाय हैं और चञ्चल मनरूपी रथवाहकके द्वारा हम पतित या पथभ्रमित हो रहे हैं।

अर्जुनके सामने भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, दुर्योधन और दुःशासन सहित अनेक महारथी युद्धके लिये खड़े थे। इसी प्रकार हमारे सामने भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरता आदि उत्पातरूपी महारथी मनमें सर्वदा उदित होकर—(१) वाणीके वेग अर्थात् दूसरोंको उद्वेग देनेवाले वाक्यके प्रयोगके द्वारा, (२) मानस वेग अर्थात् नाना प्रकारके मनोरथोंके द्वारा, (३) क्रोधवेग अर्थात् कटुवाणी आदिके प्रयोग. के द्वारा, (४) जिह्वावेग अर्थात् मीठा, खट्टा, कड़ुवा, तीखा, नमकीन और कषैला—इन छः प्रकारके रसोंकी लालसाके द्वारा, (५) उदर वेग अर्थात् अधिक भोजनकी लालसाके द्वारा और (६) जनेन्द्रिय

---

*ग्यारह इन्द्रियाँ— पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, मुख, उदर और जनेन्द्रियाँ), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा) तथा मन।

वेग अर्थात् स्त्री-पुरुष सहवासकी लालसाके द्वारा मनको असत् विषया. ेंकी ओर खींचते हैं। हम इनमेंसे किसी एकको भी परास्त करनेमें असमर्थ हैं। द्रौपदीके दुर्योधनके प्रति अपमानजनक वचनके कारण ही पाण्डवों और कौरवोंमें युद्ध हुआ था। विश्वामित्र और नारद मुनि जैसे महान् व्यक्ति भी इनमेंसे एक महारथी, जनेन्द्रियवेग (कामवासना) के द्वारा पराजित हुए थे।

एक समय नारदजी हिमालय पर्वतपर गङ्गाके तटपर एक अत्यन्त मनोरम स्थानपर पहुँचे। उस रमणीक स्थानपर रुककर वे अपने स्वाभ. ाविक निर्मल मनसे श्रीहरिका स्मरण करने लगे और उनकी समाधि लग गयी। नारद मुनिकी यह तपोमयी स्थिति देखकर इन्द्र डर गया कि कहीं ये अपनी तपस्याके बलसे मेरा स्वर्गका राज्य न छीन लें। उसने कामदेवको बुलाकर कहा—"तुम अपने सहायकों सहित जाओ और नारदजीकी समाधि भङ्ग करो।"

नारदजीके पास जाकर कामदेवने अपनी मायासे वसन्त ऋतु उत्पन्नकर कामाग्निको भड़कानेवाले वातावरणकी सृष्टि की। कामकलामें निपुण नवयुवतियाँ बहुत प्रकारकी तानोंकी तरङ्गके साथ गाने लगीं और हाथमें गेंदको लेकर विभिन्न प्रकारके खेल खेलने लगीं। किन्तु कामदेवकी कोई भी कला मुनिपर प्रभाव न डाल सकी। तब तो कामदेव अपने विनाशके भयसे डर गया और नारदजीके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगा। नारदजीके मनमें क्रोध नहीं आया और प्रिय वचन कहकर उन्होंने कामदेवका समाधान किया। किन्तु नारदजीके मनमें कामदेवको जीतनेका अभिमान हो गया और उन्होंने बड़े गर्वके साथ यह वृत्तान्त शिवजीको जाकर सुनाया। शिवजीने कहा—"आपने मुझसे जो कहा सो कहा, किन्तु श्रीहरिको यह बात मत सुनाना और अगर चर्चा भी चले, तो इसे छिपा जाना।" नारदजीको शिवजीकी शिक्षा अच्छी नहीं लगी। हाथमें वीणा लिये हरिगुण गाते वे वैकुण्ठमें श्रीनारायणके पास पहुँचे और कामदेवका सारा चरित्र उन्हें कह सुनाया। करुणानिधान भगवान्ने देखा कि इनके मनमें गर्वके भारी वृक्षका अङ्कुर पैदा हो गया है। तब उन्होंने मनमें विचार किया कि मैं उसे उखाड़कर फेंक दूँगा, क्योंकि भक्तोंका हित करना मेरा प्रण है। हृदयमें अभिमानको बढ़ाकर नारदजी वहाँसे चले गये।

तब लक्ष्मीपति भगवान्ने अपनी मायाको प्रेरित किया। उस हरिमायाने मार्गमें एक अत्यन्त सुन्दर नगर रचा, जिसमें शीलनिधि नामक राजा थे। उनका वैभव विलास सौ इन्द्रोंके समान था। उनकी विश्वमोहिनी नामकी एक परम रूपवती कन्या थी, जिसका स्वयंवर होने वाला था। नारदजी उस नगरमें राजाके महलमें पहुँचे। राजाने उनका यथायोग्य सत्कार किया और अपनी कन्याको बुलाया और उसके स्वयंवरके आयोजनकी बात नारदजीको बतलायी। उस राजकुमारीका रूप देखकर मुनि वैराग्य भूल गये और बड़ी देर तक उस कन्याको देखते ही रह गये। वे मनमें विचार करने लगे कि क्या उपाय करूँ कि यह कन्या मुझे ही वरण करे। इस समय जप-तपसे तो कुछ हो नहीं सकता, मुझे तो अत्यन्त सुन्दर रूप और वैभव चाहिये, जिससे यह राजकुमारी मुझपर रीझ जाये और मेरे ही गलेमें जयमाला डाल दे। यह सोचते-सोचते वे उस स्थानसे चले गये। उस समय नारदजीने भगवान् नारायणसे बहुत प्रकारसे विनती की। लीलामय कृपालु भगवान् प्रकट हो गये, तो नारदजीने बहुत दीन होकर अपने मनके भावको प्रकट करते हुए कहा—"हे हरि! आप अपना रूप मुझे दे दीजिये, क्योंकि और किसी उपायसे मैं उस राजकन्याको नहीं पा सकता हूँ।"

अपनी मायाका विशाल बल देखकर भगवान् हँसकर बोले—"हे नारदजी! सुनो, जिस प्रकार आपका परम हित होगा, हम वही करेंगे। हे मुनि! रोगसे व्याकुल रोगी कुपथ्य माँगे, तो वैद्य उसे नहीं देता। मैंने भी तुम्हारा हित करनेका निश्चय कर लिया है।" ऐसा कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

मायाके वशीभूत हुए मुनि ऐसे मूढ़ हो गये कि वे भगवान्की निगूढ़ वाणीको नहीं समझ सके। वे तुरन्त स्वयंवर स्थलकी ओर चले। वहाँ राजा लोग खूब सज-धजकर समाज सहित अपने-अपने आसनपर बैठे थे। नारदजी मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे कि मेरा श्रीहरि जैसा सुन्दर रूप देखकर राजकन्या भूलकर भी किसी दूसरेको वरण नहीं करेगी। कृपानिधान भगवान्ने मुनिके कल्याणके लिये उन्हें बन्दरका (हरिका एक अर्थ बन्दर भी होता है) कुरूप चेहरा दे दिया था। राजकुमारीके सभामें प्रवेश करनेपर नारदजी उसके सन्मुख खड़े हो गये। उनका बन्दरसा मुख और भयङ्कर शरीर देखकर वह मुँह

फेरकर आगे चल दी। नारद मुनि बार-बार उचकते और छटपटाते थे, किन्तु राजकुमारीने उनकी ओर देखा भी नहीं। उसी समय श्रीनारायण भी राजाका शरीर धारण करके वहाँ आये। राजकुमारीने हर्षित होकर उनके गलेमें जयमाला डाल दी और भगवान् अपनी दुलहिनको लेकर चले गये। मोहके कारण मुनिकी बुद्धि नष्ट हो गयी थी, राजकुमारीको जाते हुए देखकर वे अत्यन्त विकल हो गये। वहीं शिवजीके दो गण भी ब्राह्मण वेशमें बैठे थे, उन्होंने हँसकर नारदजीसे कहा—"जाकर दर्पणमें अपना मुख तो देखिये।" मुनिने जलमें झाँककर अपना चेहरा देखा। बन्दरका चेहरा देखकर वे अत्यन्त क्रोधित हो गये और भगवान् श्रीहरिको अनेक खरे-खोटे वचन सुनाये, यहाँ तक कि उन्हें शाप भी दे डाला। प्रभुने तुरन्त अपनी मायाको हटा लिया, अब मुनिको चेत हुआ कि मैंने क्या कर डाला और उन्होंने अत्यन्त भयभीत होकर श्रीहरिके चरण पकड़कर क्षमा माँगने लगे।

इसलिये अर्जुनने पूछा—"हे कृष्ण! फिर यह पुरुष किसके द्वारा प्रेरित होकर न चाहते हुए भी पापका आचरण करता है, मानो उसे बलपूर्वक उस कार्यमें लगाया गया हो।"

श्रीभगवान्‌ने कहा—"रजोगुणसे उत्पन्न सर्वभक्षी और अतिशय उग्र कामको जीवका प्रधान शत्रु जानो। यह काम ही क्रोधमें परिणत होता है। अतः हे अर्जुन! तुम सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशीभूतकर ज्ञान और विज्ञानको नाश करनेवाले पापरूप इस कामको विनष्ट करो।"

इस प्रकार इन महारथियोंके अतिरिक्त हमें अनेक प्रकारके अनर्थोंका भी सामना करना पड़ता है। हमें इन शत्रुओंपर विजय दिलाने और हमारे परम कल्याणका मार्गदर्शन करनेके लिये करुणामय भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको निमित्त बनाकर गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग, कर्मसंन्यासयोग, ध्यानयोग और भक्तियोगका उपदेश दिया है।

कर्मयोग

अपने स्वार्थके लिये किये गये कार्योंको 'कर्म' और कार्योंके द्वारा भगवान्‌से युक्त होनेकी चेष्टाको 'कर्मयोग' कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"कोई पुरुष किसी भी कालमें एक क्षणके लिये

भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता है। सभी पुरुष स्वभावसे उत्पन्न राग-द्वेषादि गुणोंके आधीन होकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। किन्तु जो व्यक्ति मनके द्वारा इन्द्रियोंको वशीभूतकर फलकी कामनासे रहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। तुम सन्ध्या-उपासनादि नित्य कर्म करो, क्योंकि कोई कर्म नहीं करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और कोई कर्म न करनेसे तो तुम्हारा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।"

भगवान्‌को अर्पित भोगके अवशिष्ट (प्रसाद)को ग्रहण करनेवाले साधु सभी पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो केवल अपने लिये ही अन्नादि पकाते हैं, वे दुराचारी पापको ही खाते हैं।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (गीता ३/९)

"हे कुन्तीनन्दन! यज्ञ(श्रीविष्णु)के लिये अर्पित निष्काम कर्मके अतिरिक्त अन्य कर्मोंके द्वारा मनुष्यको कर्मबन्धन प्राप्त होता है। अतः तुम फलकी आकाङ्क्षासे रहित होकर भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे कर्मका भलीभाँति आचरण करो।"

कर्मके सम्बन्धमें तीन प्रकारके विचार किये जाते हैं—कर्म, अकर्म और विकर्म। इनमें से विकर्म अर्थात् पापका आचरण और अकर्म अर्थात् स्वधर्मोचित कर्मका नहीं करना—ये दोनों ही नितान्त अमङ्गलजनक हैं। अतः विकर्म और अकर्मका परित्यागकर सावधानीपूर्वक कर्मका आचरण करना ही उचित है।

शास्त्रविहित आचरणको ही कर्म कहते हैं। कर्म तीन प्रकारका होता है—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म। संसारके विषय-सुखोंको भोगनेके उद्देश्यसे किये गये कर्म काम्य-कर्म कहलाते हैं और वेदविहित होनेपर भी ये संसारमें बन्धनरूपी अमङ्गलजनक हैं। जो काम्य कर्म करते हैं, वे कर्मके फलका हेतु होते हैं और परिणामस्वरूप उनके सुख-दुःखरूपी फलोंको भोगते हैं।

परन्तु, जो लोग कर्मयोगका अवलम्बन करते हैं, उनके लिये संसार-निर्वाह करनेके लिये नित्य और नैमित्तिक कर्म स्वीकृत हैं। शरीर, मन, समाज और परलोकके मङ्गलजनक कर्मको नित्य-कर्म कहते हैं। नित्य-कर्म सभीके लिये कर्त्तव्य कर्म हैं। सन्ध्या, वन्दना,

पवित्र उपायोंके द्वारा शरीर और समाज रक्षण, सत्य व्यवहार और पालनीयका पालन— ये सब नित्य-कर्म हैं। जो कर्त्तव्य कर्म किसी निमित्तका आश्रयकर नित्य-कर्मकी तरह किया जाता है, उसे नैमित्ति. क-कर्म कहते हैं। मृत माता-पिता-पूर्वजोंके प्रति कर्त्तव्यका पालन (श्राद्ध, पिण्ड-दान आदि) और किये गये पापोंका प्रायश्चित— ये सभी नैमित्तिक-कर्म हैं।

किन्तु, जो व्यक्ति आत्माराम हैं और आत्मामें ही तृप्त रहनेवाले हैं एवं आत्मामें ही सन्तुष्ट हैं, उनके लिये कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं हैं। आत्माराम पुरुषको इस जगत्में न तो कर्मके अनुष्ठानसे पुण्य प्राप्त होता है, न ही कर्मके अनुष्ठानको नहीं करनेसे कोई दोष होता है। उसको अपने प्रयोजनके लिये इस ब्रह्माण्डके समस्त जीवोंमें किसीके आश्रयकी आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार निष्काम कर्म करनेसे हृदयकी शुद्धि होती है और तब आत्मा और परमात्माके ज्ञानको समझने योग्य होनेपर व्यक्ति ज्ञानयोगमें प्रवेशका अधिकार प्राप्त करता है।

ज्ञानयोग

ज्ञानके द्वारा कर्मके तत्त्वको जान लेनेसे व्यक्ति कर्मके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। कर्मोंके फलकी अभिलाषा करनेवाले व्यक्ति इस मनुष्य लोकमें देवताओंकी पूजा किया करते हैं, क्योंकि कर्मोंसे उत्पन्न फल शीघ्र प्राप्त होता है। जो आसक्तिरहित हैं, देह अभिमानसे मुक्त हो गये हैं, जिनका चित्त ज्ञानमें स्थित है, वे परमेश्वरकी आराधना (यज्ञ)के लिये कर्मका आचरण करते हैं। ऐसे पुरुषोंके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं अर्थात् किसी कर्मफलको नहीं रचते हैं।

यज्ञ नहीं करनेवालेके लिये तो यह अल्प सुखवाला मनुष्य-लोक भी प्राप्य नहीं है, तो भला अन्य देवादि (स्वर्गादि) लोक किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं?

चौदहवें अध्यायमें श्रीकृष्णने अति उत्तम ज्ञानका उपदेश किया, जिसे जानकर अनेक ऋषि-मुनियोंने सिद्धि प्राप्तकर परमपदको प्राप्त किया है।

श्रीभगवान्ने कहा—"हे कुन्तीनन्दन! देव, पशु, पक्षी, मनुष्यादि समस्त

योनियोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं, भौतिक प्रकृति उनकी योनि अथ. ात् जननीस्वरूपा है और मैं बीज प्रदानकर्त्ता पितास्वरूप हूँ। प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण शरीरमें अवस्थित निर्विकार देही अर्थात् जीवात्माको बाँधते हैं।

उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण अपेक्षाकृत निर्मल, प्रकाशक तथा उपद्रवरहित होनेके कारण जीवको सुख और ज्ञानके साथ बाँधता है। सत्त्वगुणमें स्थित व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक और सार्व. जनिक जीवनके लिये हितकारी कार्योंमें तत्पर रहते हैं। उनके द्वारा किये गये कार्योंको पुण्य-कर्म कहते हैं। पुण्य-कर्म करनेवाले व्यक्ति संसारमें सुखी रहते हैं। ऐसे लोगोंको ही साधु-सङ्ग प्राप्त होनेकी सम. भावना अधिक होती है।

रजोगुण कर्मकी आसक्ति द्वारा जीवको बाँधता है। बद्धजीवोंको विषयोंमें आसक्तिरूप रङ्गसे रङ्ग देनेके कारण इसे रजोगुण कहते हैं। स्त्री और पुरुषका पारस्परिक आकर्षण ही रजोगुणकी विशेषता है। वह देहधारी प्राणियोंमें भौतिक भोगके लिये लालसा उत्पन्न कराता है। ऐसा मनुष्य समाज या राष्ट्रमें सम्मान, रूपवती स्त्री, सुन्दर सन्तान तथा सुखी परिवार चाहता है। ऐसे रजोगुणके द्वारा सारा संसार भोग-विषयोंमें आसक्त होकर मायाके बन्धनमें पड़ा हुआ है। इन्द्रिय-विषयोंके संयोगसे उत्पन्न सुख प्रारम्भमें तो अमृतके समान लगता है, परन्तु परिणाममें विषके समान हो जाता है। ऐसे लोगोंका सार क्लेश-ही-क्लेश होता है, उसमें कोई वास्तविक सुख नहीं है।

अज्ञानसे उत्पन्न तमोगुणको सभी जीवोंका मोह जानो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा देहीको आबद्ध करता है। तीन प्रकारके गुणोंमें तमोगुण सबसे निकृष्ट होता है। यह सत्त्वगुणसे सर्वथा विपरीत होता है। तमोगुणी व्यक्ति सम्पूर्ण रूपसे विवेकहीन होकर शरीर और शारीरिक भोगोंको ही सब कुछ मान लेते हैं। सभी लोग देख रहे हैं कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है, तथापि वे लोग झूठ, बेईमानी, कपटता, हिंसा आदिका भी आश्रय लेकर धन आदि विषयोंका संग्रह करते हैं, परन्तु वे आत्माका अनुशीलन नहीं करते; ऐसा पागल बना देना ही तमोगुणकी विशेषता है। मादक द्रव्योंका सेवन करना, माँस, मछली, अण्डे, मदिरा आदिका सेवनकर निष्क्रिय बने

रहना, आलस्य, प्रमाद तथा अधिक निद्रा तमोगुणी व्यक्तिके लक्षण हैं। पशुओंका वध और उनका माँस खाना तमोगुणका प्रधान लक्षण है। पशुहिंसक यह नहीं जानते हैं कि भविष्यमें ये ही पशु किसी-न-किसी रूपमें उनका भी वध करेंगे—यह प्रकृतिका नियम है। तमोगुण प्रधान व्यक्तिके समस्त कार्य अत्यन्त दुःखदायी होते हैं। उन्हें मृत्युके बाद भी कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षियोंकी योनिमें जाना पड़ता है।

मृत्युके पश्चात् सतोगुणी व्यक्ति ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, रजोगुण ाी व्यक्ति मनुष्यलोकमें रहते हैं और आलस्य-प्रमादादि परायण तमोगुण ाी व्यक्ति नीचेके लोकोंमें जाते हैं।

चींटीसे लेकर मनुष्यतक तथा तृण-गुल्मसे आरम्भकर पेड़-पौधे, नदी और पर्वतोंकी योनियोंमें भी रहनेवाले जीव गुणोंसे बँधे हुए असहायकी भाँति कार्य कर रहे हैं। वस्तुतः इन समस्त कर्मोंमें प्रकृतिके तीन गुणोंके अतिरिक्त और कोई कर्त्ता नहीं है। किन्तु, प्रकृतिका भी मूल नियामक मैं हूँ और प्रकृति एवं प्रकृतिके गुणोंके नियामक होनेपर भी इनसे सर्वथा परे हूँ। जो ऐसा तत्त्व जान लेते हैं, वे भी प्रकृति तथा प्रकृतिके गुणोंको लांघकर परमपदको प्राप्त होते हैं। जीव देहको उत्पन्न करनेवाले इन तीनों गुणोंका अतिक्रमणकर जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है। जो ऐकान्तिक भावसे मुझ परमेश्वरकी ही भक्तियोग द्वारा सेवा करते हैं, वे इन गुणोंको पारकर ब्रह्मको अनुभव करनेके योग्य होते हैं।

इस ज्ञानको किसी तत्त्वदर्शी गुरुसे ही जाना जा सकता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता ४/३४)

ज्ञानका उपदेश देनेवाले गुरुके निकट दण्डवत् प्रणामके द्वारा, विनम्रता सहित प्रश्नके द्वारा और सेवाके द्वारा उस ज्ञानको समझो। तत्त्वदर्शी ज्ञानीगण तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश देंगे।"

इस श्लोकमें ज्ञानदाता गुरुके दो लक्षण बतलाये गये हैं—ज्ञ. ानी और तत्त्वदर्शी। शास्त्रोंमें वर्णित ज्ञानको अध्ययन आदिके द्व ारा जाननेवालेको ज्ञानी कहते हैं। किन्तु, तत्त्व (परब्रह्म)के साक्षात् अनुभूतिसम्पन्न महापुरुषोंको तत्त्वदर्शी कहते हैं। कोई-कोई ज्ञानवान् होनेपर भी 'तत्त्व' और 'तत्' वस्तुके साक्षात् अनुभवी नहीं होते।

ऐसे अनुभवहीन व्यक्तियोंका उपदेश फलीभूत नहीं होता है। अनुभवी महापुरुषोंका उपदेश ही सार्थक होता है।

जिज्ञासुको ज्ञानका उपदेश देनेवाले तत्त्वदर्शी गुरुको दण्डवत् प्रणामकर ऐसा प्रश्न करना चाहिये कि हे भगवन्! मेरी यह संसार–दशा क्यों है और किस प्रकार मुझे इससे छुटकारा मिलेगा? सेवा और परिचर्याके द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिये, तब वे यथार्थ ज्ञानका उपदेश करेंगे।

इस प्रकार श्रद्धावान्, जितेन्द्रिय तथा साधनपरायण व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करते हैं और ज्ञानको प्राप्तकर संसारनाशरूपी परम शान्ति प्राप्त करते हैं।

कर्मसंन्यासयोग

अविद्या द्वारा जीवका स्वाभाविक ज्ञान आच्छादित है, उसीसे समस्त जीव मोहित हो रहे हैं। किन्तु, जिनका वह अज्ञान भगवान्के ज्ञानसे विनष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान ही सूर्यके समान प्रकाशित हो. कर (अन्धकार या अविद्याको नष्ट करते हुए) अप्राकृत परम तत्त्व (भगवान्)को प्रकाशित कर देता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेपर साधक कर्मसंन्यास योगका अधिकारी बन जाता है। उस समय वह अनुभव करता है कि कर्म और कर्मफलमें आसक्तिका त्याग ही यथार्थ संन्यास है। जो व्यक्ति न किसी से द्वेष करते हैं और न ही किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा करते हैं, वे सदा ही संन्यासी समझे जाने योग्य हैं, क्योंकि राग–द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित व्यक्ति ही इस संसार–बन्धनसे अनायास मुक्त होते हैं। अशुद्धचित्त व्यक्तियोंके लिये कर्मके स्वरूपतः त्यागकी अपेक्षा आसक्तिरहित कर्मयोगका आश्रय ग्रहण करना ही उचित और प्रशस्त मार्ग है। भगवदर्पित निष्काम कर्मयोग ही ब्रह्मपद प्राप्तिकी योग्यता प्रदान करता है। ब्रह्मको जाननेवाले शान्तिके अधिकारी होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ (गीता ५/२९)

“मनुष्य मुझे सभी यज्ञ और तपस्याओंका भोक्ता, सभी लोकोंका महानियन्ता और सभी जीवोंका सुहृद जानकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।”

ध्यानयोग

ध्यानयोगके विषयमें साधक तत्त्वविद् गुरुके उपदेशोंको सुनकर भलीभाँति समझ लेता है कि चित्त शुद्ध होनेपर ही भगवद्-ध्यान सम्भवपर होता है। कामनाओं और सङ्कल्परहित व्यक्ति ही यथार्थ योगी या संन्यासी है। जिसने अपने मनको जीत लिया है, उसका मन ही उसका बन्धु है, किन्तु अजितेन्द्रिय व्यक्तिका मन ही शत्रुके समान उसके अपकारमें प्रवृत्त होता है। इसलिये विषयभोगोंकी कामना रहते हुए योगकी सिद्धि नहीं होती। परिमित आहार-विहार करनेवाले व्यक्तिकी ही योगसिद्धि होती है। इस प्रकार पापरहित योगी पवित्र स्थानमें उचित आसनपर बैठकर इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर मनको निरन्तर योगनिष्ठ करते-करते अनायास ही ब्रह्मप्राप्तिरूप परम सुख प्राप्त करते हैं अर्थात् जीवनसे मुक्त हो जाते हैं। समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीके रूपमें भगवद्दर्शन और श्रीभगवान्के आश्रयमें ही जीवोंकी स्थिति है—ऐसा अनुभव ही योगकी सिद्धि है। इस अध्यायके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (गीता ६/४७)

"मेरे मतानुसार समस्त योगियोंमें भी वे योगी सर्वश्रेष्ठ हैं जो श्रद्धावान् होकर मुझमें आसक्त मनके द्वारा निरन्तर मुझे ही भजते हैं।"

अर्थात् भक्त तपस्वी, कर्मी, ज्ञानी और योगीसे भी श्रेष्ठ है।

भक्तियोग

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अनेक स्थानोंपर यह स्पष्ट घोषण ा की है कि वे ही परतत्त्वकी चरमसीमा हैं। उनके अतिरिक्त और कोई भी परमतत्त्व है ही नहीं। भगवान् श्रीकृष्णकी अध्यक्षतामें उनकी बहिरङ्गा माया शक्ति चर-अचर सहित सम्पूर्ण जगत्को प्रसव करती है और जगत्की पुनः-पुनः सृष्टि होती है। जीव अति क्षुद्र होनेके कारण इस मायाके बन्धनको काट नहीं सकता। श्रीकृष्णके श्रीचरण

ाकमलोंमें ऐकान्तिक रूपसे शरणागत हुए बिना मायाजालसे छुटकारा पानेका और कोई उपाय नहीं है। मूढ़ (विवेकशून्य), नराधम (मनुष्योंमें नीच), मायाके द्वारा विलुप्त ज्ञानवाले और आसुरी प्रवृत्तिवाले— ये चार प्रकारके दुष्कृतिसम्पन्न व्यक्ति भगवान्का भजन नहीं करते हैं और इसके विपरीत आर्त्त (दुःखी), जिज्ञासु, अर्थार्थी (धनकी इच्छावाले) और ज्ञानी— ये चार प्रकारके सुकृतिसम्पन्न व्यक्ति भगवान्का भजन करते हैं। इस जगत्में भगवद्भक्त सुदुर्लभ हैं। जिनके ज्ञानको कामनाओंने हर लिया है, वे अन्यान्य देव-देवियोंकी आराधनासे नश्वर वस्तुओंकी अभिलाषा करते हैं। इससे उनका परम कल्याण नहीं हो सकता। ऐक. ान्तिक भक्तोंके द्वारा ही श्रीकृष्णप्राप्ति सुलभ है। भगवद्भक्तका पुनर्जन्म नहीं होता है और अनन्या (केवल भगवान्की ही) भक्तिके द्वारा ही भगवत्प्राप्ति होती है। कर्म, ज्ञान, ध्यान (अष्टाङ्ग) योगके द्वारा प्राप्त किये जानेवाले फल भक्तिके द्वारा अनायास ही प्राप्त किये जा सकते हैं। गीतामें भगवान्ने भक्तियोगको ही सर्वश्रेष्ठ साधन बतलाया है, इसलिये भक्तियोगका विस्तारसे वर्णन आगेके अध्यायोंमें किया गया है।

तृतीय परिच्छेद

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ (भागवत १/२/११)

“अद्वयज्ञान अर्थात् एक अद्वितीय वास्तव-वस्तु (परमेश्वर)को तत्त्वको जाननेवाले परमार्थ कहते हैं। वह एक ही वास्तव-वस्तु ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्, इन तीन रूपोंमें जानी जाती है।”

आत्मा चिद् (चेतन) वस्तु है और उस परमेश्वरका सनातन अंश है। श्रीभगवान्ने कहा—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५/७)

“इस जगत्में जीव मेरा ही सनातन अंश है।”

स्वरूपतः जीव भगवान्का अंश होनेसे सच्चिदानन्दमय है और भग. वान्का दास है। परन्तु अपनी स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करनेसे वह इस संसारकी मायाके प्रति आकर्षित होकर मायामें बन्धकर अपने स्वरूपको भूल गया है। इस प्रकार वह संसारको भोगनेकी इच्छासे नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकता हुआ सुख-दुःखके द्वन्दोंमें पिस रहा है। जीव कैसे मायाके बन्धनसे छूटकर अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूपमें स्थित हो सकता है, इसके लिये ही भगवान्ने गीताका उपदेश दिया है। इसे समझानेके लिये अब गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम और सर्वगुह्यतम उपदेशोंका संक्षेपमें यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

गुह्य (गूढ़) उपदेश

प्रथम परिच्छेदमें गीताके साधारण उपदेशको बतलाया गया है। इसके बाद गुह्य(गूढ़) उपदेश आता है, जो ब्रह्मज्ञान है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ (गीता १५/१६)

“इस जगत्में ‘क्षर’ और ‘अक्षर’ —ये दो चेतन पुरुष तत्त्व हैं। इनमेंसे अपने स्वरूपसे पतित हो जाने वाला ‘क्षर’— जीव है और

जो कभी भी अपने स्वरूपसे पतित नहीं होते हैं, वे 'अक्षर पुरुष' परमेश्वर ही 'कूटस्थ पुरुष' कहलाते हैं।"

जिनपर कालका प्रभाव नहीं होता है, वही कूटस्थ हैं। जगत्की उत्पत्ति होनेपर जो परमेश्वरके प्रकाश जगत्में सर्वव्यापी सत्तास्वरूपमें नित्य विद्यमान होते हैं, वे ही 'ब्रह्म' हैं और जगत्से सम्बन्धित हा. ेनेके कारण वे स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं। ज्ञानी इन्हीं निराकार, निर्विशेष, सर्वव्यापी ब्रह्मकी उपासना करते हैं, परन्तु उनके साधनमें बहुत कष्ट हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ (गीता १२/५)

"निर्विशेष, निराकार ब्रह्मस्वरूपमें आसक्तचित्त व्यक्तियोंको अधिकतर क्लेश होता है क्योंकि इन्द्रियोंका निरोध करके ही अव्यक्त (निराकार) ब्रह्मके विषयमें जाना जा सकता है। देहमें स्वयंका अभिमान करन. ेवालोंको निराकारमें निष्ठा दुःखपूर्वक प्राप्त होती है।"

साधनकालमें बहुत कष्ट उठानेके पश्चात् ब्रह्ममें अवस्थित ज्ञानीके लक्षणोंका वर्णन अठारहवें अध्यायमें किया गया है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ (गीता १८/५४)

"ब्रह्ममें अवस्थित प्रसन्नचित व्यक्ति न तो शोक करते हैं और न ही किसी संसारकी वस्तुकी आकाङ्क्षा करते है। वे सभी भूतोंमें (जीवोंमें) समदर्शी होकर प्रेमलक्षणयुक्त मेरी भक्ति प्राप्त करते हैं।"

ब्रह्मभूत शब्दका तात्पर्य जीवका अपने नित्य स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना है। ब्रह्मभूत महात्मा भक्तोंका सङ्ग प्राप्त करके भगवान्की परा-प्रेमाभक्ति लाभ करते हैं। संक्षेपमें यही ब्रह्मज्ञान है।

गुह्यतर (अधिक गूढ़) उपदेश

इसके बाद आता है गुह्यतर (अधिक गूढ़) उपदेश, जो कि परमात्माका ज्ञान है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (गीता १५/१७)

"किन्तु, पहले कहे गये क्षर और अक्षर तत्त्वसे भिन्न एक अन्य

उत्तम पुरुष परमात्मा कहलाते हैं, जो ईश्वर और निर्विकार हैं और तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उनका पालन करते हैं।"

ब्रह्मसे श्रेष्ठ परमात्माको इस प्रकार बतलाया गया है—"जो ईश्वर अर्थात् नियामक हैं, 'अव्ययः' अर्थात् निर्विकार भावसे ही समस्त त्रिलोकमें प्रविष्ट होकर उसे धारण और पालन करते हैं।"

परमात्मा प्रत्येक जीवके हृदयमें अंगुठेके आकारमें चतुर्भुज विष्णुके रूपमें जीवके सभी कार्योंके साक्षीके रूपमें निवास करते हैं। उन्हींसे ही जीवोंके कर्मफलके अनुसार स्मृति और ज्ञान तथा दोनोंका नाश होता है। योगी अपने हृदयमें उनका ध्यान करते हैं। किन्तु वास्तविक योगी वही है जो चित्त और देहको संयतकर विषयोंका त्यागकर योग द्वारा परमात्मासे युक्त होता है। यही ज्ञान गुह्यतर है।

गुह्यतम उपदेश

तृतीय और सर्वोत्कृष्ट अक्षर पुरुषका नाम भगवान् है। श्रीकृष्ण वही भगवत्-तत्त्व हैं। वे क्षर पुरुष 'जीव'से परे और अक्षर पुरुष 'ब्रह्म' और 'परमात्मा'से उत्तम हैं। अतएव जगत्में और वेदोंमें उन्हें पुरुषोत्तम कहा जाता है।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्के उपासकोंके लिये उनकी प्राप्तिके साधन क्रमशः ज्ञान, योग और भक्ति हैं। ज्ञान और योगका फल मोक्ष है, किन्तु भक्तिकी सहायताके बिना ये मोक्ष नहीं प्रदान कर सकते। भगवान्के भक्तोंको अपने साध्यकी सिद्धिके लिये ब्रह्म अथवा परमात्माकी उपासना नहीं करनी पड़ती।

भगवद् ज्ञानका गुह्यतम उपदेश शुद्ध भक्तिके लक्षण वाला है। इस गुह्यतम ज्ञानके द्वारा ही संसाररूप अशुभसे मुक्ति प्राप्त होती है। श्रीभगवान्ने कहा–

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥ (गीता ९/२)

"(भक्तिका) यह ज्ञान सभी विद्याओंका राजा, गोपनीय विषयोंका राजा, अतिशय पवित्र, प्रत्यक्ष अनुभवयोग्य, धर्मसङ्गत, बिना किसी कष्टके साध्य होने योग्य और सनातन है।"

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ (गीता १०/८)

"मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ, मुझसे ही सभी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं—इस प्रकार समझकर पण्डितगण भावयुक्त होकर मुझे भजते हैं।"

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ (गीता १०/९)

"जिन्होंने अपने चित्त तथा प्राण मुझे समर्पित कर दिये हैं, वे सर्वदा एक-दूसरेको मेरा तत्त्व बताते हुए और मेरे नाम, रूप, गुण, लीलादिका कीर्तन करते हुए सन्तोष लाभ करते हैं और आनन्दका अनुभव करते हैं।"

यहाँ ऐकान्तिक भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता बतलायी गयी है। भक्तिमें ज्ञान और योगकी भाँति अन्तःकरणकी शुद्धिकी अपेक्षा भी नहीं होती है। अत्यन्त दुराचारी व्यक्तिके हृदयमें भी भक्ति कृपापूर्वक प्रवेशकर उसे परम पवित्र और विश्व-वन्दनीय सर्वश्रेष्ठ महाभागवत बना देती है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (गीता ९/३०-३१)

"यदि सुदुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भजनपरायण होकर मेरा भजन करता है, तो वह भी साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह मेरी भक्तिमें स्थिर बुद्धिवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शाश्वत श. ान्ति प्राप्त करता है। हे अर्जुन! यह प्रतिज्ञा कर लो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता है।"

शुद्धभक्ति सम्बन्धी यह गुह्यतम ज्ञान परम विज्ञानमय है। ईश्वर विषयक ज्ञानको अनुभूतिके साथ जानना ही विज्ञान है। यहाँ वर्णित शुद्धभक्ति भगवान्की ऐश्वर्य भावके साथ भक्ति है। ऐश्वर्य भावमें भक्त भगवान्को सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सबकी सृष्टि और पालन करनेवाला मानता है। उसके विचारसे भगवान्को भूख, प्यास, थकान नहीं लगती है और वे आत्माराम, आप्तकाम हैं। ऐश्वर्य भाव प्रधान होनेसे भक्तके लिये भगवान्की सेवाका अधिक अवकाश नहीं होता

है। इसलिये भक्तका प्रेम कुछ शिथिल हो जाता है। परन्तु जब भक्त भगवान्‌के साथ लौकिक सद्‌बन्धुवत् (संसारके सम्बन्धी-बन्धुके समान) प्रेमके सम्बन्धसे सेवा करनेकी इच्छा करते हैं, तब भगवान्‌को भूख, प्यास लगती है और वे थकानका भी अनुभव करते हैं, जिसके कारण भक्तको उनकी सेवाका अवसर प्राप्त होता है। ऐसी भक्तिको रसमय भक्ति कहते हैं।

सर्वगुह्यतम उपदेश

अठारहवें अध्यायके अन्तमें भगवान् सर्वगुह्यतम उपदेश दे रहे हैं।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ (गीता १८/६४)

गीताशास्त्रके गम्भीर ज्ञानको श्रवणकर अर्जुन निस्तब्ध हो गये, यह देखकर भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णका हृदय पिघल गया और वे कहने लगे—"हे प्रिय मित्र अर्जुन! अब जो मैं कहने जा रहा हूँ, वह वचन ही परमम् है अर्थात् गीताशास्त्र, जो सभी शास्त्रोंका सार है, उसका भी सार है। 'गुह्यतमम्'—इन वचनोंसे अधिक गुह्य कुछ नहीं है, कहीं नहीं है और कहीं किसी प्रकारसे हो भी नहीं सकता है, यह अखण्ड है। इन वचनोंको पुनः कहनेका कारण यह है कि तुम मेरे अतिप्रिय सखा हो, इसलिये तुम्हारे मङ्गलके लिये मैं इसे कहूँगा। कोई भी व्यक्ति अपने प्रिय सखाके अतिरिक्त अन्य किसीको अति. रहस्यपूर्ण बात नहीं कहता। मैंने तुम्हें 'गुह्य ब्रह्म-ज्ञान' और 'गुह्यतर परमात्म-ज्ञान' के विषयमें बताया। अभी 'गुह्यतम' 'भगवत्-ज्ञान' का उपदेश दे रहा हूँ, इसे श्रवण करो। इस गीताशास्त्रमें मैंने जितने भी उपदेश दिये हैं, उन सबकी अपेक्षा यह श्रेष्ठ है।"

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ (गीता १८/६५)

"तुम मुझे चित्त समर्पण करो, मेरे नाम-रूप-गुण-लीला आदिके श्रवण-कीर्त्तन परायण होकर मेरे भक्त होओ, मेरी पूजा करनेवाले होओ और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। मैं तुम्हें यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।"

यही भगवद्गीताका सर्वश्रेष्ठ श्लोक है। यह रसमय है और भक्तिकी चरम सीमा है। इस श्लोकमें चार विशेष क्रियाओंका वर्णन है। पहला है— 'मन्मना भव', सर्वदा मेरा चिन्तन करो; दूसरा— 'मद्भक्तो', मेरे भक्त बनो; तीसरा— 'मद्याजी', मेरी पूजा करो और चौथा है— 'मां नमस्कुरु', मुझे प्रणाम करो।

'मां नमस्कुरु'— अर्जुनने कहा कि इस युद्ध भूमिमें 'मन्मना भव', 'मद्भक्तो' और 'मद्याजी' मेरे लिये सम्भव नहीं है। इसलिये मुझे सरल मार्ग बतलाइये।

श्रीकृष्णने कहा—"यदि तुम्हें सहज मार्ग चाहिये, तो 'मां नमस्कुरु', मुझे केवल प्रणाम करो।"

केवल प्रणाम नहीं, नमस्कारका अर्थ है अपने अहङ्कारका परित्याग करके प्रणाम निवेदन करना।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (गीता १८/६६)

"समस्त धर्मोंका परित्याग करके केवल मेरी शरणमें आ जाओ।"

इस उपदेशको हृदयमें धारण करके हमें श्रीकृष्णको प्रणाम करना चाहिये। केवलमात्र एक बार इस प्रकार प्रणाम करनेसे हम एक छला. ंगमें ही अथाह भवसागरको पार कर जायेंगे। जैसा यमराजजी यमदूतोंको उपदेश दे रहे हैं–

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥ (भाग. वत ६/३/२९)

"हे दूतों! जिसकी जिह्वा श्रीकृष्ण नामका कीर्त्तन नहीं करती है, जिसका चित्त श्रीकृष्णके पादपद्मका स्मरण नहीं करता है, जिसका मस्तक एक बार भी श्रीकृष्णको नमन नहीं करता है, ऐसे असत् लोगोंको ही मेरे पास लाओ, क्योंकि वे कुछ भी भक्तिका कार्य नहीं करते हैं।"

'दशाश्वमेधि पुनरेतिजन्म कृष्ण प्रणामी न पुनर्भवाय॥'

"जिन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ किये हैं, उनका पुनर्जन्म होता है, किन्तु जिसने केवल एक बार श्रीकृष्णको प्रणाम किया, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।"

'सकृत प्रणामी कृष्णस्य मातुः स्तन्यं पिवेन्न हि॥'

"जो श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम करते हैं, उन्हें पुनः माताका स्तन-पान नहीं करना पड़ता है।"

अर्जुनने कहा—"प्रभो! मैंने केवल एक बार नहीं, आपको शत्-शत् प्रणाम किये हैं।"

जिसने केवल एक बार पूर्ण शरणागतिसे श्रीकृष्णको प्रणाम कर लिया, वह जन्ममृत्युके चक्रसे छूट जाता है। वह माताके गर्भमें प्रवेश नहीं करता। यही 'मां नमस्कुरु' का तात्पर्य है।

'मद्याजि'— 'याजि' का अर्थ है— अर्चन। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नता ही प्रधान है। यदि वे सन्तुष्ट हैं, तो हमारी पूजा सार्थक है और हमें स्वतः ही प्रसन्नता प्राप्त होती है। किन्तु यदि हम अपने स्वार्थके लिये पूजा कर रहे हैं, तो वह सकाम भक्ति है। अधिकांश गृहस्थ अर्चन करते समय प्रार्थना करते हैं—"प्रभो! मैं अपने समस्त कर्मोंका फल आपके चरणोंमें अर्पण करता हूँ। मेरे पास जो कुछ भी है, वह आपका ही है और मैं उसे आपको समर्पित करता हूँ।" परन्तु वे वास्तवमें ऐसा करते नहीं हैं, उनका उद्देश्य तो केवल अपने परिवारकी सुख-शान्ति है। अपने सुखकी अभिलाषासे युक्त अर्चन विशुद्ध अर्चन नहीं है। अर्चन करने वालेकी निष्ठा कैसी होती है, इसके लिये एक सत्य घटनाका यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

मथुरामें एक बाबा रहते थे, जो शालग्राम शिलाका निष्ठापूर्वक अर्चन करते थे। अर्चनके विभिन्न अङ्गोंका उन्हें पूर्णज्ञान नहीं था, किन्तु वे जो कुछ करते, निष्ठापूर्वक करते थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें यमुनाजीमें स्नानकर यमुना-जलसे ही मैं शालग्रामका अर्चन करूँगा।

एक समयकी बात है, माघ महीनेकी अमावस्याकी रात थी, घनघोर अन्धकार छाया हुआ था, उसपर रातभर वर्षा होती रही और हवाके तेज झोंके चलते रहे। आकाशमें तारोंके न होनेके कारण उन्हें समयका ज्ञान नहीं हो पाया और ब्राह्ममुहूर्तसे पहले ही उठकर यमुनाजीमें स्नानके लिये चल पड़े। यमुनाजीका पानी बर्फकी भाँति ठण्डा था। ठण्डके मारे उनका बुरा हाल हो रहा था, तथापि अपने नियमकी रक्षाके लिये उन्होंने यमुनाजीमें स्नान किया और ठाकुरजीके लिये जल लिया। जब वे वापस आ रहे थे, तो अन्धकार, वर्षा और

शारीरिक अस्वस्थताके कारण उन्हें अत्यन्त कठिनाई हो रही थी। वे बड़े चिन्तित हुए कि मैं किस प्रकार घर जाकर ठाकुरजीकी सेवा कर पाऊँगा? इतनेमें ही उन्होंने देखा कि लालटेन लेकर कोई चला आ रहा है। जब वे निकट गये, तो देखा कि वह एक बालक है। बालकके सिरपर वर्षासे बचनेके लिये कम्बल था। बिल्कुल समीप आनेपर बालकने पूछा—"बाबा! आप कहाँ जायेंगे?" उस व्यक्तिने अपना ठिकाना बताया, तो बालकने पुनः कहा—"मैं भी उधर ही जा रहा हूँ, आप मेरे साथ चलें, मैं आपको घर तक छोड़ दूँगा।" वे उस बालकके साथ चलने लगे और कब वे अपने घर पहुँच गये, उन्हें पता भी नहीं चला। जब वे घरकी ओर मुड़ने लगे, तो उन्होंने सोचा कि बालकका नाम तो पूछ लूँ। किन्तु यह क्या! दूर-दूर तक बालकका पता नहीं था। वे वहीं जड़वत् खड़े रह गये और सोचने लगे—"हाय! मेरे वचनकी रक्षाके लिये स्वयं छलिया इस रूपमें आया और मुझे छलकर चला गया।"

यह है अर्चन, हमारा इसी प्रकारका दृढ़ निश्चय होना चाहिये। अपने सुख-दुःखका विचार भगवान्‌की सेवामें न आये। यही वास्तविक तृष्णा है और यदि हम इसी प्रकार सतृष्ण होकर ऐसे प्रेमके साथ पूजा करेंगे, तो भगवान् हमें अवश्य स्वीकार करेंगे। इस विषयसे सम्बन्धित श्लोक श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीराय. रामानन्द संवादमें पाया जाता है-

नानोपचार-कृतपूजनमार्त्तबन्धोः
प्रेम्णैव भक्तहृदयं सुखविद्रुतं स्यात्।
यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा
तावत् सुखाय भवतो ननु भक्ष्य-पेये॥ (पद्यावली १३)

जिस प्रकार पेटमें जब तक तीव्र भूख-प्यास रहती है, तभी तक भोजन और पीनेके द्रव्य सुखदायी होते हैं। उसी प्रकार आर्त्तबन्धु भगवान्‌की नाना प्रकारके उपचारोंसे पूजा होनेपर भी वह पूजा प्रेमयुक्त होनेपर ही भक्तोंका हृदय आनन्दसे द्रवित होता है। तात्पर्य यह है कि तीव्र भूख-प्यास नहीं रहनेसे सुस्वादु, सुगन्धित और मधुर खाद्य और पानीय द्रव्य भी ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं होती। उसी प्रकार प्रेम

नहीं रहनेसे नाना प्रकारके उपचारोंके साथ पूजा करनेपर भी श्रीकृष्ण प्रसन्न नहीं होते। परन्तु तीव्र भूख-प्यास रहनेपर साधारण अन्न-जल भी अत्यन्त सुखकर और तृप्तिदायी होता है। उसी प्रकार भक्तके हृदयमें यदि प्रेम रहता है, तभी उसके द्वारा प्रदत्त साधारण वस्तुसे भी श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रीति प्राप्त करते हैं। भक्तके हृदयका प्रेम ही भगवान्‌में भूख उत्पन्न करता है और वे कहते हैं-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ (गीता ९/२६)

"जो भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फलादि प्रदान करते हैं, मैं उन शुद्धचित्त भक्तोंके द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित उन वस्तुओंको ग्रहण करता हूँ।"

इसलिये श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि कोई श्रद्धा और प्रेमके साथ मुझे निष्कपट रूपसे कुछ अर्पण करे, तो मैं उसे अवश्य ग्रहण करता हूँ।

इस विषयमें एक और सत्य कथा है। एक ब्राह्मण था, जो श्री. विग्रहकी पूजा करता था और पूजाके बाद प्रतिदिन भोग लगाता था। इस कार्यके लिये उसे वेतन मिलता था। वेतन न मिलनेपर वह पूजा नहीं करता था। उसका श्रीविग्रहसे कोई प्रेम नहीं था। भारतमें ऐसे अनेक व्यवसायिक पुजारी हैं, जो घर-घर जाते हैं। वे पूजाके लिये *'सीधा'* जैसे चावल, आटा, दाल, सब्जी, कपड़ा आदि लेते हैं, इसे वे श्रीविग्रहको दिखाते हैं और सब सामानको बाँधकर अपने घर ले जाते है।

एक बार यह ब्राह्मण कुछ दिनोंके लिये नगरसे कहीं बाहर जा रहा था। उसने अत्यन्त स्नेहपूर्वक अपने पुत्रको बुलाया और कहा—"मेरे प्यारे पुत्र! ठाकुरजीको स्नान करानेके बाद प्रतिदिन भोग लगाना।" उस बालकने पूजाके विषयमें अधिक कुछ सीखा नहीं था, किन्तु उसने कहा—"अच्छा, आप जैसा कहते हैं, मैं वैसा कर दूँगा।"

अगले दिन जब उसकी माँ रोटी, सब्जी इत्यादि बना रही थी, बालकने ठाकुरजीको गङ्गाजलसे स्नान कराया, तुलसी चढ़ायी और सिंहासनपर पधराया। फिर तुलसी पत्र डालकर रोटी-सब्जीका यह कहते हुए भोग लगाने लगा—"ठाकुरजी! आप अपना भोजन ग्रहण कीजिये,

आप खाइये, मैं यहीं खड़ा रहूँगा।" वह कुछ देर खड़ा रहा। फिर उत्सुक होकर कहने लगा—"ठाकुरजी! मैं लगभग आधे घण्टेसे खड़ा हूँ और आपकी थालीको देख रहा हूँ। किन्तु आप कुछ भी नहीं खा रहे हैं। जब मेरे पिताजी भोग लगाते हैं, आप उसे तीन-चार मिनटमें प्रसन्नतापूर्वक खा लेते हैं। मैं कोई मन्त्रादि नहीं जानता, इसलिये आप नहीं खा रहे हैं। मेरे पिताजी यहाँ नहीं हैं, तो क्या आप भूखे रहेंगे? जब तक आप नहीं खायेंगे, मैं भी कुछ नहीं खाऊँगा।"

वह अत्यन्त प्रेम और निष्कपटतासे यह कह रहा था। यदि हरिनाम जप करते समय ऐसी भावना हमारे हृदयमें न हो, तो मन्त्रका प्रभाव नहीं होता। यदि हम ठाकुरजीकी सेवा ऐसी भावनासे न करें, तब वे हमारी सेवा क्यों स्वीकार करेंगे? कुछ समय प्रतीक्षा करनेके बाद बालकने कहा—"प्रभो! आप नहीं खायेंगे? ठीक है, तब मैं भी बिना खाये-पीये सो जाता हूँ।"

उसके पश्चात् भगवान् अपने आपको रोक न सके, वे अपने सिंहासनसे उतरकर बैठ गये और दोनों हाथोंसे खाने लगे। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक थालीमें जो कुछ था, उसे प्रेमसे खा लिया। वह बालक खाली थालीको रसोई घरमें वापिस ले गया और कहने लगा—"माँ! भगवान्ने भोजन कर लिया। मैंने बड़ी कठिनाईसे उन्हें भोजन कराया।"

बालककी माँने कहा—"उन्होंने खा लिया, इससे तुम्हारा क्या अर्थ है? रोटी कहाँ गयी? सब्जी कहाँ है?"

"उन्होंने खा लिया।"

"उन्होंने खा लिया? यह कैसे सम्भव है?"

अगले दिन बालकने भगवान्को पुनः उसी प्रकार भोजन कराया। उससे अगले दिन ब्राह्मण घर वापस आ गया। उसकी पत्नीने उससे कहा—"पिछली दो रातोंसे हम बिना कुछ खाये-पिये ही सो रहे हैं।"

ब्राह्मणने पूछा—"क्यों?"

"ठाकुरजीको जो कुछ अर्पण किया गया, वे सभी कुछ खा गये।"

"ठाकुरजीने खा लिया? किस प्रकार?"

कुछ सोच विचार करनेके बाद ब्राह्मणने अपने पुत्रको बुलाया और कहा—"मेरे प्रिय पुत्र! मुझे लगता है, कोई चूहा आकर समस्त भोगको खा गया होगा। चूहे पुराने सिंहासनके नीचे अपना बिल बना

लेते हैं और वहाँ आरामसे रहते हैं। उन्हें भोजन भी आरामसे मिल जाता है, साथमें दीपकका घी भी पीनेको मिलता है।"

बालकने हठ करते हुए कहा—"नहीं! ठाकुरजीने ही सब खाया।"

"अच्छा-अच्छा, आज रात भी तुम ही भोग लगाना।"

उस रात जब उसका पुत्र भोग लगा रहा था, ब्राह्मण निकटमें ही छिप गया और देखने लगा कि ठाकुरजी सचमुचमें खाते हैं या नहीं। उस बालकने कहा—"प्रभो! आप देरी क्यों कर रहे हैं, जल्दी आइये और भोग ग्रहण कीजिये।" किन्तु ठाकुरजी अपने स्थानपर ही स्थित रहे। तब बालकने कहा—"प्रभो! आप खा क्यों नहीं रहे हैं? आप विलम्ब क्यों रहे हैं? क्या हो गया?"

तभी एक मृदु आवाज आयी—"आज तुम्हारे पिता छिपकर देख रहे हैं, इसलिये मैं नहीं आऊँगा।"

बालकने कहा—"क्यों? आप अवश्य आइये और भोग ग्रहण कीजिये। यदि आप नहीं खायेंगे, तो मैं बहुत दुःखी हो जाऊँगा।"

ठाकुरजीने कहा—"जाओ और अपने पिताको स्पर्श करके आओ।"

बालकने वैसा ही किया। उसी समय बालकके कुछ भाव उसके पिताके अन्दर भी प्रकाशित हो गये। उसके बाद ब्राह्मणने देखा कि ठाकुरजी सचमुच ही भोग ग्रहण कर रहे हैं।

पूजा करनेके लिये भगवान्‌की प्रसन्नता ही प्रधान है, ऐसी भावना आवश्यक है। यदि ऐसी भावना और श्रद्धा न हो तो समझना चाहिये कि अभी पूजा करनेका अधिकार नहीं आया। यहाँ एक बात समझनी आवश्यक है, जो कुछ भी भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये निवेदन किया जाता है, वह अन्ततः हमारे ही सुखके लिये होता है।

चतुर्थ परिच्छेद

'मद्भक्तो'— नमस्कार और अर्चनके पश्चात् स्थिति आती है— 'मद्भक्तो', तुम मेरे भक्त बनो।

भागवतमें प्रह्लाद महाराजने कहा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(भागवत ७/५/२३-२४)

"भगवान् श्रीकृष्णके दिव्यनाम, गुण, रूप, लीलाओंका श्रवण और कीर्तन करना, उन्हें स्मरण करना, उनके चरणोंकी सेवा करना, उनकी पूजा करना, उनकी वन्दना करना, दास भावसे उनकी सेवा करना, उनके प्रिय मित्र हो जाना और सम्पूर्ण रूपसे स्वयंको उनके चरणोंमें समर्पित कर देना, यह नवविधा (नौ प्रकारकी) भक्ति है।"

भक्ति भक्तोंके सङ्गसे ही प्राप्त होती है। पूर्व जन्मोंकी सुकृतियोंके फलस्वरूप साधु सङ्ग प्राप्त होता है। ऐसे सुकृतिवान् व्यक्तिको साधुके मुखसे हरिनाम और हरिकथा श्रवण करनेका जब सुयोग प्राप्त होता है, तब उसके हृदयमें भक्ति उदित होती है।

श्रीबिल्वमङ्गल ठाकुरकी कथा इसका एक उपयुक्त उदाहरण है। उनका जन्म दक्षिण भारतमें कृष्णवेण्वा नदीके तटपर स्थित एक गाँवमें हुआ था। वे वेद-वेदान्त इत्यादिके प्रकाण्ड पण्डित थे, तथापि नदीके उस पार रहनेवाली चिन्तामणि नामक एक वेश्याके प्रति अत्यधिक आसक्त थे। एक समयकी बात है, रात्रिकाल था और घनघोर वर्षा हो रही थी। किन्तु चिन्तामणिसे मिलनेके लिये वे इतने अधीर थे कि किसी भी बातकी परवाह न करते हुए उससे मिलने चल दिये। रास्तेमें नदीको पार करना था। बाढ़के कारण उस भयानक रात्रिमें उफनती नदीने कालका रूप धारण कर रखा था। नदी पार करनेके लिये कोई नौका भी नहीं थी। उन्होंने नदीके किनारे बहते हुए एक

शवको लकड़ी समझकर उसके सहारे ही तैरते हुए नदी पार की। जब वे चिन्तामणिके घर पहुँचे, तो उसका द्वार बन्द था। बिजलीके कड़कनेके कारण द्वारकी खटखटाहट किसीको सुनायी नहीं दी। तब वे प्राचीरसे लटकते हुए सर्पको रस्सी समझकर उसीके सहारे प्राचीरके ऊपर चढ़ गये, किन्तु प्राचीरके दूसरी ओर पाँव फिसल जानेके कारण अन्दर गिरकर अचेत हो गये। उनके गिरनेके शब्दको सुनकर सखियोंके साथ चिन्तामणि बाहर आयी और बिजलीके प्रकाशमें बिल्वमङ्गल. को पहचानते ही वह सारी बात समझ गयी। चिन्तामणिने स्वयंको धिक्कारते हुए बिल्मङ्गलको भी खूब फटकार लगायी। उसने कहा कि तुम्हारी जितनी आसक्ति हाड़-मांस-मज्जासे बने मेरे शरीरमें है, यदि इतनी आसक्ति श्रीकृष्णके चरणोंमें होती, तो निश्चित ही तुम्हारा कल्याण हो गया होता। चिन्तामणिकी फटकारको सुनकर उनकी आँखें खुल गयीं और वे अपनेको धिक्कारने लगे। तब उन्होंने कहा कि मैं कलसे ही सब कुछ त्यागकर भगवद्-भजन करूँगा।

प्रातःकाल ही उन्होंने कृष्णवेण्वा नदीके तटपर 'सोमगिरि' नामक श्रेष्ठ वैष्णवके पास जाकर अपना वृत्तान्त कहा और उनका आश्रय ग्रहणकर उनसे दीक्षा मन्त्र लिया। शीघ्र ही उनमें वृन्दावन जानेकी प्रबल उत्कण्ठा जाग्रत हुई और अपने गुरुकी आज्ञा प्राप्तकर वे वृन्दावनकी ओर चल दिये।

मार्गमें उन्हें प्यास लगी। जब वे किसी गाँवके समीप जा रहे थे, तो उन्होंने एक स्त्रीको कुएँसे पानी भरते हुए देखा। वे पानी पीनेके लिये वहाँ गये, किन्तु उस स्त्रीके रूपपर मुग्ध हो गये। उस स्त्रीके पीछे-पीछे वे उसके घर तक जा पहुँचे।

स्त्रीके पतिने साधु समझकर सम्मान देते हुए उन्हें भीतर बैठाया। बिल्वमङ्गलने उनसे स्त्रीको बुलानेका आग्रह किया। पतिके कहनेसे वह स्त्री बाहर आयी। उन्होंने स्त्रीसे उसके बालोंमें लगी हुई सुइया. ेंको माँगा। स्त्री और उसके पतिने सोचा कि ये भ्रमणशील साधु हैं, सम्भवतः इनके पाँवमें कोई काँटा चुभ गया होगा, जिसे वे निकालना चाहते हैं। बिल्वमङ्गल काँटा तो अवश्य निकालना चाहते थे, परन्तु वह काँटा उनके हृदयमें था, जिस तक वे पहुँच नहीं पा रहे थे। इसलिये उन्होंने सुइयाँ ली और अपनी दोनों आँखें फोड़ लीं। 'न रहेगा

बाँस, न बजेगी बाँसुरी।' ये आँखें इस जड़ जगत्में हमारी आसक्तिका मूल कारण हैं, क्योंकि स्त्रीका रूप पुरुषको और पुरुषका रूप स्त्रीको आकर्षित करता है। ये दोनों ही मायाके मूर्त्तिमान स्वरूप हैं, इसलिये शास्त्र इस विषयमें विशेष सावधान रहनेके लिये हमें निर्देश देते हैं।

उनकी आँखोंसे अविरल रक्त प्रवाहित होने लगा। वहाँसे नेत्रहीन होकर वे वृन्दावनके लिये पुनः चल दिये, किन्तु अब उनका हृदय पवित्र हो चुका था। कुछ ही दूर चलनेके बाद इनके समीप एक बालक आया। उस बालकने अत्यन्त ही मधुर स्वरमें पूछा—"बाबा! आप कहाँ जा रहे हैं?" बिल्वमङ्गलने उत्तर दिया—"मैं वृन्दावन जा रहा हूँ।" बालकने कहा—"मैं भी वृन्दावन जा रहा हूँ। आप मेरी ये लठिया पकड़ लें।" वह बालक और कोई नहीं स्वयं श्रीकृष्ण थे।

वे दोनों साथ-साथ चलने लगे और चलते-चलते वृन्दावन पहुँच गये। मार्गमें बिल्वमङ्गलको अपने हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णके रूप, गुण, लीला सम्बन्धी अनेक स्फूर्ति हुईं और वे उनका गान करते चले। उनका यह गान साथमें चल रहे श्रीकृष्णके कानोंके लिये अमृतके समान था, इसलिये उस ग्रन्थका नाम हुआ 'श्रीकृष्णकर्णामृत'।

बिल्वमङ्गल ठाकुर एक साधक थे। जो श्रीकृष्णकी अनन्य भ. क्तिको अपने जीवनका लक्ष्य बनाकर उसके लिये प्रयास करते हैं, वे साधक कहलाते हैं। अनर्थोंको दूरकर साधकको अपने साधनमें आगे बढ़ना चाहिये। इस संसारके व्यक्ति जिन अलभ्य वस्तुओंकी कामनाओंकी पूर्तिके लिये कठिन प्रयास करते हैं, वे भक्तिके द्वारा सुगमतासे उपलब्ध हो जाती हैं। निष्कपट रूपसे हरिनाम करते-करते और हरिकथा श्रवण करते हुए साधकको मुक्ति हाथ जोड़कर पीछे खड़ी होकर विनती करती है—

मुक्ति स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेहस्मान्
धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः॥ (श्रीकृष्णकर्णामृत-१०७)

"हे प्रभो! क्या मैं आपकी किसी प्रकारसे सेवा कर सकती हूँ?" आठ प्रकारकी योग सिद्धियाँ अपनी-अपनी सेवा देनेको प्रस्तुत रहती हैं। भक्तिके प्रभावसे भक्तको प्रचुर प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और वह उसके सुखमें बड़ी सुगमतासे डूबकर भक्तिसे दूर हो जाता है। इसलिये इससे सावधान रहना चाहिये और केवल निष्ठापूर्वक श्रीकृष्णकी सेवाकी

ही अभिलाषा होनी चाहिये।

गीतामें श्रीभगवान्‌ने घोषणा की है कि वे अपने निष्ठावान् भक्ता.
ेंका योगक्षेम स्वयं वहन करते हैं, इस विषयमें एक सत्य घटना इस प्रकार है—

अर्जुन मिश्र नामक एक दरिद्र ब्राह्मण थे, किन्तु वे परम भगवद्भक्त थे। उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताकी एक टीका लिखी है। वे नित्य प्रातःकाल भजन कार्य पूर्णकर एक प्रहर दिन चढ़ने तक श्रीगीताकी टीका लिखा करते थे। उसके बाद भिक्षाके लिये वे बाहर चले जाते। भिक्षामें वे जो कुछ पाते पत्नीके आगे रख देते।

वे बड़े प्रेमसे रन्धन करतीं, भगवान्‌को भोग लगाकर स्वामीको महाप्रसाद भोजन करातीं और जो कुछ बचता उसे सन्तुष्ट चित्तसे स्वयं पा लेतीं। उनके सभी कपड़े फटे-पुराने थे। केवल एक धोती कुछ अच्छी थी, जो बाहर जानेके लिये उपयुक्त थी। जब ब्राह्मण उसे पहनकर भिक्षाके लिये बाहर जाते, तो ब्राह्मणी चिथड़ोंसे अपने अङ्गोंको ढककर लज्जा निवारण करतीं। स्वामी जब भिक्षासे लौटते, तब ब्राह्मणी उसी धोतीको पहनकर बाहर आती-जातीं और गृहकार्योंको सम्पन्न करतीं। फिर भी दरिद्रताको भगवान्‌की देन समझकर दोनों सर्वदा सन्तुष्ट रहते। 'गृहदेवता श्रीगोपीनाथजी कृपाकर जो कुछ भिक्षा दे देते हैं, उसे उनको निवेदनकर महाप्रसाद पाते हैं'— सर्वदा उनकी ऐसी ही भावना होती। वे इस प्रकार आनन्दसे दिन व्यतीत करते। सांसारिक दुःख-कष्टसे वे तनिक भी विचलित नहीं होते।

इसी प्रकार अर्जुन मिश्र नियमित रूपसे गीताकी टीका लिखते। एक दिन वे भजनसे निवृत्त होकर टीका लिखने बैठे।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (गीता ९/२२)

"अन्य कामनारहित तथा मेरी चिन्तामें निरत जो व्यक्तिगण सर्वता.
ेभावेन मेरी उपासना करते हैं, नित्य मुझमें एकनिष्ठ उन व्यक्तियोंका योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ।"

इस श्लोककी टीका लिखनी थी। श्लोक पढ़ते ही उनके मनमें एक जटिल समस्या उत्पन्न हुई। वे किसी प्रकार भी उसका समाधान नहीं कर पा रहे थे। जो स्वयं भगवान् हैं, जो सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण

डके एकमात्र अधीश्वर हैं, क्या वे अपना अनन्य भावसे भजन करने वाले व्यक्तियोंका योग-क्षेम स्वयं वहन करते हैं? नहीं, ऐसा कदापि सम्भव नहीं। यदि यह सत्य है, तो मेरी अवस्था ऐसी क्यों है? मैं तो अनन्य भावसे केवल उन्हींका भरोसा करता हूँ; मैंने अपना यथासर्वस्व उन्हींके चरणोंमें अर्पण कर दिया है, फिर भी मुझे ऐसा दारिद्र्य-दुःख क्यों भोगना पड़ रहा है? अतः '**नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्**' भगवान्के मुखारविन्दसे निकला हुआ वाक्य नहीं, अपितु प्रक्षिप्त (बादमें किसीने जोड़ दिया है) प्रतीत होता है। वे अपनी बुद्धिसे गुत्थीको जितना सुलझानेकी चेष्टा करते उतना और अधिक उलझते जाते। धीरे-धीरे उनका सन्देह बढ़ता गया। आखिर उन्होंने इन शब्दोंको लाल स्याहीकी तीन रेखाओंसे काट दिया और ग्रन्थ लिखना बन्दकर भिक्षाके लिये निकल पड़े।

इधर भक्तवत्सल श्रीभगवान्ने देखा कि मेरे भक्तके मनमें मेरे वचनोंपर सन्देह उत्पन्न हुआ है। वे अति मनोहर सुकुमार श्याम वर्ण बालकका वेश धारणकर दो टोकरियोंमें प्रचुर चावल, दाल, तरकारी और घी इत्यादि सामान भरकर बहँगीपर रखकर उसे स्वयं अपने कन्धोंपर वहन करते हुए मिश्रजीके दरवाजेपर पहुँचे। दरवाजा भीतरसे बन्द था। उन्होंने पहले दरवाजा खटखटाया और फिर जोर-जोरसे पुकारने लगे—"माताजी! माताजी! दरवाजा खोलिये।" वे बेचारी ब्राह्मणी चिथड़ोंको लपेटकर किसीके सामने जाँय भी तो कैसे? वे लज्जावशतः चुपचाप बैठी रहीं। किन्तु, दरवाजेकी खटखटाहट और पुकारनेकी आवाज बन्द होनेके बदले क्रमशः बढ़ती गयी। आखिर उन्होंने लाचार होकर दरवाजा खोल दिया। बालक बहँगी लेकर भीतर आ गया और उसे आँगनमें रखकर वहाँ एक ओर खड़ा हो गया। ब्राह्मणी लज्जासे सिमटी-सी मुख नीचेकर घरके भीतर चली गयीं। बालक वेशधारी भगवान्ने ब्राह्मणीसे कहा—"माँ! पण्डितजीने (मिश्रजी) मुझे यह *सीधा* (भोजनकी कच्ची सामग्री) देकर भेजा है। आप इसे भीतर रख लें।"

ब्राह्मणी अब तक लज्जाके मारे घरमें मुख नीचा किये हुए खड़ी थीं। बालकके मधुर शब्दोंको सुनकर आँगनमें देखा, बड़ी-बड़ी दो टोकरियाँ खाद्य-द्रव्योंसे भरी हुई हैं। इतनी भोजन सामग्री उन्होंने अपने जीवनमें कभी नहीं देखी थी। बालकके बार-बार कहनेसे वे

वस्तुओंको एक-एक कर घरमें रखने लगीं। आनन्द और उत्साहसे उन वस्तुओंको ले जानेके समय बार-बार बालकके मुखारविन्दकी ओर निहारती जाती थीं।

बालकका सुन्दर मुख-मण्डल देखकर वे निहाल हो गयीं—"अहो! कितना सुन्दर मुख है।" श्याम वर्णमें इतना अलौकिक सौन्दर्य हो सकता है, इसकी जीवनमें उन्होंने कभी कल्पना तक नहीं की थी। वे ठगी-सी रह गयीं, देखते-देखते उनकी दृष्टि बालकके वक्षस्थलपर पड़ी। उन्होंने देखा कि उसकी छातीपर तीन लम्बे-लम्बे दाग पड़े हैं मानो किसीने अभी-अभी किसी तेज अस्त्रसे चीर दिया हो और खून निकल रहा हो। वे आतुर होकर बोलीं—"बेटा! तुम्हारे वक्षस्थलको किस निर्ममने चीरा? हाय! हाय! ऐसे सुकोमल अङ्गोंपर आघात करनेसे तो पाषाण हृदय भी पिघल जायेगा।" बालक वेशधारी श्रीकृष्ण ाने कहा—"माँ! मुझे सीधा लानेमें कुछ देर हो गयी थी, इसलिये मिश्रजीने स्वयं मेरी छातीको चीर दिया।"

"हाय! हाय! उन्होंने तुम्हारी छातीको चीर दिया?" ब्राह्मणीकी आँखें सजल हो आयीं और कहा—"अच्छा, घर आने दो, उनसे पूछूँगी, तुम्ह. ारे सुकोमल अङ्गोंपर उन्होंने किस प्रकार निष्ठुर होकर हाथ उठाया? बेटा! दुःख मत करो। थोड़ी देर ठहर जाओ, मैं अभी रसोई तैयार करती हूँ। तुम ठाकुरजीका प्रसाद पाकर जाना।"

ब्राह्मणी बालकको आँगनमें बैठाकर रसोईके आयोजनमें व्यस्त हो गयीं। इधर भगवान्ने सोचा—"जिस उद्देश्यके लिये मैं इन वस्तुओंको स्वयं वहनकर लाया था, वह कार्य तो पूरा हो गया। ब्राह्मण अब घर आकर हाथों-हाथ मेरे वाक्यकी सत्यताका प्रमाण पा जायेंगे। उन्हें फिर कभी मेरे वाक्योंपर अविश्वास या सन्देह नहीं होगा।" इस प्रकार भक्तका सन्देह दूर करनेकी व्यवस्थाकर वे तत्क्षणात् अन्तर्धान हो गये।

इधर ब्राह्मणको आज बहुत चेष्टा करनेपर भी कुछ भिक्षा न मिली। वे निराश होकर घर लौटे। उन्होंने सोचा—"ठाकुरजीकी ऐसी ही इच्छा है।" दरवाजा खटखटाते ही ब्राह्मणीने दरवाजा खोल दिया। घरमें प्रवेश करते ही पत्नीको रन्धनका आयोजन करते देखकर बा. ेले—"रसोईका आयोजन तो कर रही हो, पर आज कुछ भी भिक्षा नहीं मिली। क्या बनाओगी?"

ब्राह्मणीको कुछ विस्मय हुआ और बोलीं—"क्यों? कुछ देर पहले ही तो आपने उस बालकके हाथ जो इतना बड़ा *सीधा* भेजा है, हम दोनों उसे छह महीनेमें भी समाप्त नहीं कर सकेंगे। फिर 'रसोई क्या होगी'- ऐसा क्यों कहते हो? किन्तु आपका हृदय पाषाण जैसा इतना कठोर हो सकता है, मैं पहले तो ऐसा नहीं जानती थी। एक निरीह बालकके सुकोमल अङ्गोंपर आपने कैसे आघात किया? थोड़ी भी दया न आयी? उसकी छाती चिर जानेसे लाल-लाल तीन दाग हो गये हैं मानों अभी-अभी रक्त निकल पड़ेगा।"

मिश्रजीके आश्चर्य ठिकाना न रहा। उन्होंने पूछा—"आखिर बात क्या है? साफ-साफ कहो। मैंने न तो कोई सामान भेजा है और न ही किसी बालकको मारा है। मेरी समझमें कुछ नहीं आ रहा है।"

ब्राह्मणीने पतिदेवकी बात सुनकर उन्हें घरमें रखे चावल, दाल, आटा आदि वस्तुओंको दिखाया और आँगनमें बैठे बालकके वक्षस्थलमें चिरे हुए दागको दिखलानेके लिये उन्हें साथ लेकर आँगनमें आयीं। परन्तु देखा, वहाँ बालक नहीं है। कहाँ गया? इधर-उधर खोजा, बाहरका दरवाजा पूर्ववत् बन्द था। दोनों आश्चर्यचकित होकर एक दूसरेकी ओर देखने लगे। मिश्रजीको अब कुछ भी समझना बाकी नहीं रहा। उनकी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। फिर भी रहा-सहा सन्देह दूर करनेके लिये वे हाथ-पैर धोकर ठाकुरजीके घरमें गये और गीता-ग्रन्थको खोलकर देखा— आज प्रातः उन्होंने लाल स्याहीकी जिन तीन रेखाओंसे **"नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"**को काट दिया था, अब वे तीनों रेखाएँ नहीं थीं।

वे आनन्दसे गद्गद होकर ठाकुर घरसे निकल आये और रोते-रोते पत्नीसे बोले—"प्रिये! तुम धन्य हो, आज तुम्हें गोपीनाथजीके साक्षात् दर्शन मिले। ये सभी सामान वे स्वयं वहन करके लाये हैं। भला मैं इतना सामान कहाँ पाऊँगा? आज सुबह गीताकी टीका लिखनेके समय मुझे भगवान्‌की वाणीपर सन्देह हुआ था। मैंने सन्देहयुक्त अंशको लाल स्याहीकी तीन रेखाओंसे काट दिया था। इसीसे हमारे गोपीनाथजीका सुकोमल वक्षःस्थल चिर गया। वे परम करुणामय हैं। हाय! उन्होंने अपनी वाणीकी सत्यता प्रमाणितकर मेरे जैसे नास्तिकका सन्देह दूर करनेके लिये कितना कष्ट उठाया है।"

वे आगे बोल न सके, उनका गला रुँद्ध गया। प्रेम विभोर होकर 'हा गोपीनाथ! हा गोपीनाथ!!' कहकर वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। ब्राह्मणी गोपीनाथजीके सामने सुध-बुध खोई-सी खड़ी थीं, उनकी भी आँखें बरस पड़ीं। कुछ देर बाद ब्राह्मणको चेतना आयी। उन्होंने स्नानादि नित्य क्रिया समाप्तकर गोपीनाथजीको भोग लगाया और परम प्रीतिके साथ दोनोंने महाप्रसाद पाया। फिर वे नियमित रूपसे गीताकी टीका लिखने लगे। उनका जीवन अत्यन्त भक्तिमय हो गया।

भक्ति— वैधी और रागानुगा

नवविधा भक्ति दो प्रकारकी है। एक है— वैधी भक्ति और दूसरी है— रागानुगा भक्ति। संसारमें जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, नरक-भोग आदि दुःखोंका शास्त्र वर्णनकर उनसे निदान पानेका एकमात्र उपाय भगवद् भजनको ही स्थिर करते हैं; शास्त्रके ऐसे वचन सुनकर जिस भक्तिमें मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है, उसे वैधी भक्ति कहते हैं। वैधी भक्तिमें शास्त्रके शासन (भय)से ही प्रवृत्ति होती है, स्वाभाविक राग या रुचि उसकी प्रवर्त्तक नहीं होती। अपने इष्ट श्रीकृष्णमें जिस प्रेममयी-तृष्ण ासे स्वाभाविक परमाविष्टता होती है, उस प्रेममयी-तृष्णाको राग कहते हैं और रागमयी भक्तिको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। रागात्मिका भक्ति श्रीकृष्णके व्रजके परिकरों (उनके माता-पिता, सखा, बन्धु-बान्धव, गोपियों आदि)में विद्यमान है और वैसी प्रेममयी सेवाके लोभसे जिस भक्तिमें मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है, उसे रागानुगा भक्ति कहते हैं। राग. ानुगा भक्तिमें शास्त्रके वचनोंकी कोई अपेक्षा नहीं रहती है और इसे उत्तमा भक्ति कहते हैं।

अन्याभिलाषिताशून्यं, ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥ (भ.र.सि.१/१/११)

"तन-मन-वचन और हृदयकी सभी भावनाओंसे भगवान् श्रीकृष्ण या उनके शुद्ध भक्तोंकी अनुकूल भावसे सेवा लाभ करनेके अतिरिक्त हृदयमें किसी और अभिलाषाकी गन्धसे रहित भक्ति जो ज्ञान और कर्मादिसे ढकी न हो, उस भक्तिको उत्तमा भक्ति कहते हैं।"

कर्म और ज्ञान कैसे भक्तिको ढक सकते हैं, इसे समझना चाहिये। सभी व्यक्ति कुछ न कुछ कर्म तो करते ही हैं, सोते समय साँस

लेना, करवट बदलना और स्वप्न देखना, ये भी कर्म हैं। तो कर्म अपरिहार्य है, कर्म किये बिना कोई एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। यदि कोई कहता है कि वह बिना कर्म किये ही जीवित है, तो वह पाखण्डी है। इसलिये श्रीकृष्णने कहा–

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता ९/२७)

"तुम जो कुछ भी करते हो, जो भी भोजन बनाते हो, यज्ञ करते हो, दान देते हो या तपस्या करते हो, सब कुछ मुझे अर्पण करो।"

यदि एक व्यञ्जन अपने जिह्वाके स्वादके लिये यह सोचकर बनाया जाता है कि मेरे धनसे ही आवश्यक सामग्री लायी गयी है और मैं ही इसका भोग करूँगा और फिर उसे भगवान्को अर्पित किया जाता है, तो यह भी दोषपूर्ण है। हम जो कुछ भी खाते या पीते हैं, वह भगवान्की प्रीतिके लिये ही होना चाहिये। भगवान् (विग्रहरूपमें) भोगको ग्रहण करते हैं, फिर सबको उनके उच्छिष्ट प्रसादका वितरण करना चाहिये। साधारणतः विश्वभरके धार्मिक व्यक्ति इसी प्रकार कर्मयोगमें रत हैं। परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु और गौड़ीय आचार्योंने सिखलाया है कि इस प्रकारसे भी कर्म करनेसे हम बन्धनमें पड़ जायेंगे। पहले हमें स्वयंको ही भगवद्चरणोंमें समर्पित कर देना चाहिये। तब हम जो भी खायेंगे अथवा करेंगे, वह भगवद्–सेवार्थ ही होगा। इससे भक्ति आच्छादित नहीं होगी, अपितु वर्धित होगी।

इसी प्रकार ज्ञानके बिना भी जीवित रहना सम्भव नहीं है। जैसे चलते समय पाँव किधर रखना है, यह ज्ञान भी आवश्यक है अन्यथा हम गिर पड़ेंगे। इसी प्रकार जीवनमें सभी कार्योंको भली–भाँति करनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है।

परन्तु ये ज्ञान और कर्म भक्तिको किस प्रकार ढक देते हैं, इसे भागवतमें वर्णित भरत महाराजके उदाहरणसे समझा जा सकता है। एक असहाय हिरणकी सहायता करनेकी चेष्टा करते हुए भरत महाराजसे एक भूल हो गयी और वे भक्ति मार्गसे पतित (च्युत) हो गये। भरत महाराज युवावस्थामें ही सम्पूर्ण पृथ्वीके राज्यको त्यागकर भगवद् भजनके लिये वनमें चले गये। वहाँ साधन–भक्ति करते हुए

उन्होंने भक्तिकी अति उच्च 'भावदशा'को भी प्राप्त कर लिया। एक दिन उन्होंने एक शिशु हिरणकी सिंहसे रक्षा की और उसे नदीमें डू. बनेसे बचाया। वनके हिंसक पशुओंसे रक्षा करनेके लिये उसे अपनी कुटियामें ही रख लिया और दूधादि पिलाकर उसका पालन-पोषण करने लगे। परन्तु धीरे-धीरे उस हिरणमें उनकी इतनी आसक्ति हो गयी कि वे भगवद्भजनको भूलसे गये। इस प्रकार सात्त्विक दयाके कर्मसे उनकी भक्ति ढक गयी। परिणामस्वरूप अन्त समयमें उसी हिरणका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़नेके कारण उन्हें अगला जन्म हिरणका लेना पड़ा, जैसा गीतामें कहा गया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ (गीता ८/६)

"हे कौन्तेय! जो अन्तकालमें जिस-जिस विषयकी चिन्ता करते हुए शरीर त्याग करते हैं, सर्वदा उसीके चिन्तनमें तन्मय वे उसी-उसी भावको प्राप्त होते हैं।"

परन्तु भक्तिके प्रभावसे उन्हें हिरणके शरीरमें भी पूर्व जन्मकी स्मृति बनी रही और पुनः किसीके प्रति आसक्ति न हो, इस विषयमें वे सचेष्ट रहे। फिर अगले जन्ममें वे एक ब्राह्मणके घरमें पैदा हुए और गूँगे-बहरे होनेका अभिनयकर संसारसे सर्वथा अनासक्त रहकर भजन करते हुए उन्होंने सिद्धि प्राप्त की।

इसलिये ज्ञान और कर्म सर्वदा वर्तमान रहनेपर भी उन्हें सदा भक्तिके आधीन ही रखना चाहिये, अन्यथा भक्ति उनसे आच्छादित हो जायेगी।

भक्तिकी प्रारम्भिक स्थितिमें हमें भगवान्‌की अनुभूति नहीं है, इसलिये भगवान्‌के साथ इस प्रकार सम्बन्धयुक्त होनेके लिये सर्वप्रथम हमें अपने गुरुदेवको सब कुछ समर्पित करना चहिये। वर्तमान स्थितिमें वे ही हमारे लिये भगवान्‌के समान हैं। भागवतमें श्रीकृष्णने कहा हैं कि आचार्यको मेरा ही स्वरूप मानो। जब हम भगवान्‌से साक्षात् सम्बन्धयुक्त हो जायेंगे, तब इन औपचारिकताओंकी आवश्यकता नहीं रहेगी। (उदाहरण स्वरूप) गोपियाँ स्वयं भोजन करती हैं और श्रृंगार भी करती हैं, परन्तु औपच. ारिकतावश श्रीकृष्णको कोई भेंट निवेदन नहीं करतीं या उनकी पूजा नहीं करतीं। सुन्दर वेशभूषा धारण करते हुए वे अनेक प्रकारके आभूषण

ोंका व्यवहार करती हैं, परन्तु यह सब वे श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये ही करती हैं। उनका सब कुछ स्वभावतः श्रीकृष्णकी सेवाके लिये ही है। इसी प्रकार साधकको सब कुछ एकमात्र श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये करना चाहिये। ऐसी भक्ति दुष्प्राप्य है और इसके लिये पूर्वजन्मकी सुकृतियोंका होना भी आवश्यक है। एक रागानुगा भक्तको इस प्रकार साधना करनी चाहिये, जिसमें ज्ञान और कर्मका लेशमात्र भी स्पर्श न हो। तब क्रमशः निज चिद्स्वरूप उदित होनेपर श्रीकृष्णकी साक्षात् सेवा प्राप्त होती है। श्रीरघुनाथदास गोस्वामी भी रागानुग साधकका एक श्रेष्ठ उदाहरण हैं। यद्यपि आन्तरिक रूपसे वे सिद्ध थे, तथापि बाह्य रूपसे उन्होंने एक साधकका आचरणकर जगत्में भक्तिका आदर्श स्थापित किया।

वे एक बहुत धनी जमींदारके इकलौते पुत्र थे। बचपनमें ही उन्होंने अपने पारिवारिक गुरु यदुनन्दन आचार्यसे दीक्षा ग्रहण की थी और नामाचार्य श्रीहरिदास ठाकुरका सङ्ग प्राप्त किया था। हरिदास ठाकुरके सङ्गके प्रभावसे उन्होंने हरिनाम करना प्रारम्भ किया। सोलह वर्षकी अल्पायुमें ही प्रगाढ़ भक्तिके कारण उनमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया। कई बार वे घर छोड़कर श्रीचैतन्य महाप्रभुके पास गये, किन्तु उनके पिताजी अपने सेवकों द्वारा उन्हें पकड़कर लौटा लाते थे। उनके पिताजीने सोचा कि यदि मैं इसका विवाह कर दूँ, तो यह अपनी पत्नीके प्रेमपाशमें बँधकर घरमें ही रहेगा। इसलिये उनके पिताने सर्वगुण–सम्पन्न स्वर्गकी अप्सराके समान सुन्दरी कन्यासे उनका विवाह करा दिया। वे स्वयं एक राजकुमारके समान थे और उनका शरीर भी अत्यन्त सुन्दर और सुकोमल था। परन्तु हृदयमें प्रबल कृष्णप्रेमके कारण उन्हें अपने पिताजीका इन्द्रके समान वैभव और अप्सराके समान पत्नी भी घरमें बाँधनेमें सफल नहीं हुए। नित्यानन्द प्रभुकी सेवा करके उन्हें नित्यानन्द प्रभुकी कृपा प्राप्त हुई, उसके बाद किसी प्रकार वे घरसे निकल भागनेमें सफल हो गये। वे रातमें जंगलके रास्तेसे भागे, जिससे उनको कोई पकड़ न पाये। सात दिन–रात वे बिना खाये–पिये चलते रहे, सातवें दिन एक ग्वालेने उन्हें कुछ दूध और चावल खानेको दिये। इतनी कम आयुमें दिन–रात चलते–चलते वे अन्तमें श्रीजगन्नाथ पुरी पहुँचे।

पुरी पहुँचनेपर श्रीचैतन्य महाप्रभुने उनका आलिङ्गन किया और

कहा—“तुमने बहुत अच्छा किया जो यहाँ आनेके लिये विष्ठाके कूप (अर्थात् एक संसारीके गृह) का परित्याग किया है।” निकट ही श्रीस्वरूप दामोदर बैठे थे, श्रीमन्महाप्रभुने रघुनाथ दासको उन्हें सौंप दिया और कहा—“आजसे स्वरूप दामोदर ही तुम्हारे पिता, माता, भाई, गुरु सभी कुछ हैं। आज मैं तुम्हें इनके हाथोंमें सौंप रहा हूँ, तुम किसी बातकी चिन्ता मत करना।” इस प्रकार भगवान्ने स्वयं उन्हें ऐसे उन्नत गुरुके हाथोंमें सौंप दिया।

श्रीरघुनाथदास पुरीमें अत्यन्त वैराग्यपूर्वक रहने लगे। उनके धनी पिता उनके रहने-खानेकी व्यवस्था करना चाहते थे, परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। वे जगन्नाथजीकी रसोईसे फेंके हुए सड़े चावल, जिन्हें गाय भी नहीं खाती थी, उसे उठा लाते, पानीसे धोते और थोड़ासा नमक मिलाकर खा लेते और उसीसे अपना जीवन निर्वाह करते। उनकी एकमात्र सम्पत्ति एक मिट्टीका जलपात्र था, उनके पास कोई थाली और कम्बल भी नहीं था। दूसरोंके फेंके हुए वस्त्रोंसे दो कौपीन बनाकर पहन लेते और भजन करते।

अपनी प्रकट लीलाके अड़तालीसवें वर्षमें श्रीमन्महाप्रभुने इस जगत्को छोड़कर अपनी लीला सङ्गोपन कर ली। उनके विरहमें श्रीरघुनाथदासने खाना-पीना छोड़ दिया, दिन-रात वे रोते रहते। इसीको साधन कहते हैं और जो ऐसा जीवन व्यतीत करते हैं, वे साधक हैं। कुछ समय बाद श्रीमन्महाप्रभुके विरहमें श्रीस्वरूप दामोदरने भी धराधामको छोड़कर गोलोक व्रजमें प्रवेश किया। तब तो श्रीरघुनाथदासने पानी पीना भी त्याग दिया और वे रात-दिन केवल रोते रहते। वे फिर पुरीमें न रह सके, क्योंकि उनकी दशा ऐसी थी, जैसी श्रीकृष्णके मथुरा चले जानेके पश्चात् नन्दबाबाकी हुई। अपने घरकी प्रत्येक वस्तु (कृष्णका पीताम्बर, कृष्णकी वंशी, कृष्णका मोर पंख) नन्द बाबाको श्रीकृष्ण ाकी स्मृति कराती थी। इस तीव्र विरहका अनुभव होनेपर वे श्रीकृष्ण ाको भूलनेके लिये घरसे बाहर चले जाते। यमुना तटपर जानेपर वे श्रीकृष्णके पदचिह्न देखकर विरहमें व्याकुल हो जाते। वे उस वृक्षको देखते जहाँसे श्रीकृष्णने कालियका दमन करनेके लिये छलांग लगायी थी। इससे नन्दबाबाको और भी तीव्रतासे श्रीकृष्णकी याद आती और वे अपनी आँखें बन्द कर लेते। फिर वे गोवर्धन चले जाते, वहाँ

उन्हें लगता मानो सभी वृक्ष विरहमें एक दूसरेपर झुके हुए हैं और रो रहे हैं—"कृष्ण कहाँ चले गये?" राधाकुण्ड, श्यामकुण्ड, कुसुम सरोवर और मानसी गङ्गा उनके विरह तापको और बढ़ा देते थे। अन्तमें वे पुनः घर लौट आते।

इसी प्रकार श्रीरघुनाथदास पुरीमें जो कुछ देखते, उससे उन्हें श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीस्वरूप दामोदरकी स्मृति हो आती। वे पुरीमें रहनेमें असमर्थ हो गये और पैदल चलकर वृन्दावन पहुँचे। वहाँ वे श्रीरूप और श्रीसनातन गोस्वामीसे मिले। उनके द्वारा पुरीका समाचार पूछनेपर श्रीरघुनाथदासने कहा—"श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीस्वरूप दामोदर इस जगत्से चले गये हैं, अतः मैं भी अब जीवित नहीं रह सकता। मैं गोवर्धनसे कूदकर अथवा अर्धरात्रिमें राधाकुण्डमें डूबकर देह त्याग करूँगा और श्रीराधाजीके चरणोंको प्राप्त करूँगा, मैं यहाँ इसलिये आया हूँ।"

उन दोनोंने उन्हें आत्महत्या करनेसे रोका और उन्हें राधाकुण डके निकट वासस्थान दिया। वहीं रहकर वे अपना दृढ़तापूर्वक भजन करते। प्रतिदिन नियमित रूपसे एक लाख हरिनाम संख्या पूर्ण होनेके पश्चात् ही वे जल ग्रहण करते थे। वे प्रतिदिन वैष्णवों, धाम और श्रीकृष्णलीला-स्थलियोंको एक हजार बार दण्डवत् प्रणाम करते थे। निद्रा, आहार आदिका त्यागकर वे दीन भावसे दिन-रात श्रीराधा-कृष्ण ाकी लीलाओंके चिन्तनमें ही डूबे रहते थे।

कुछ समय पश्चात् श्रीमन्महाप्रभुके विरहमें श्रीरूप-सनातन भी इस जगत्को छोड़ गये। दास गोस्वामीने सोचा अब मैं किसका आश्रय लूँगा? श्रीरूप-सनातनके विरहमें गिरिराज गोवर्धन उन्हें एक अजगरकी भाँति लगता मानों उन्हें निगल जायेगा, राधाकुण्ड एक बाघिनकी भ. ाँति लगता। नन्दग्राम, बरसाना और अन्य लीला स्थलियाँ उन्हें शून्य प्रतीत होतीं। श्रीरूप-सनातनके विरहमें उन्होंने पानी पीना भी छोड़ दिया, अपने जीवन धारणके लिये कभी-कभी छाछकी कुछ बूँदें ग्रहण करते। राधाकुण्डके तटपर श्रीराधा-कृष्णके विरहमें कातर होकर रोते हुए पुकारते-

हे राधे! व्रजदेविके! च ललिते! हे नन्दसूनो! कुतः
श्रीगोवर्धन-कल्पपादप-तले कालिन्दिवन्ये कुतः।

घोषन्ताविति सर्वतो व्रजपुरे खेदैर्महाविह्वलौ
वन्दे रूप–सनातनौ रघुयुगौ श्रीजीव–गोपालकौ॥

(श्रीषड्गोस्वामी अष्टकम्–८)

"हे व्रजकी पूजनीय देवि! राधिके! आप कहाँ हैं? हे ललिते! आप कहाँ हैं? हे व्रजराजकुमार! आप कहाँ हैं? श्रीगोवर्धनके कल. पवृक्षोंके नीचे बैठे हो अथवा कालिन्दीके कमनीय तटपर विराजमान वन समूहमें भ्रमणकर रहे हो?"

इस प्रकार पुकारते–पुकारते रघुनाथदास गोस्वामी श्रीराधाकृष्णके विरहमें भावाकुल होकर व्रजकी चारों दिशाओंमें विचरण करते। वे इस प्रकार भजन करते थे। **श्रीराधाकृष्णको पानेका यही साधन है।**

कर्मयोगकी साधनाके द्वारा सहज ही स्वर्गको प्राप्त किया जा सकता है। तपस्या द्वारा ध्रुवने सशरीर वैकुण्ठ गमन किया था, किन्तु यहाँ जिस श्रीकृष्ण भक्तिका वर्णन किया जा रहा है, वह अत्यन्त दुर्लभ और कठिनाईसे प्राप्त होने वाली है।

यही भक्ति है और उस साधनका उदाहरण है जिसके द्वारा भक्ति प्रशस्त होती है। तब क्रमशः निष्ठा रुचिमें, रुचि आसक्तिमें और आसक्ति परम परिपक्व होकर भाव–नाम धारण करती है। भाव भक्ति प्रेमभक्तिरूप सूर्यकी किरणके समान अर्थात् उदित होते हुए सूर्यके प्रथम अङ्कुरके समान है। 'मन्मना भव' के अन्तर्गत प्रेमभक्तिका विवेचन अगले अध्यायमें किया जायेगा।

पञ्चम परिच्छेद

'मन्मना भव'— इस अध्यायमें 'मन्मना भव'— 'अपना मन और हृदय मुझमें आविष्ट करो' की आलोचना करेंगे। ऐसा करना सहज नहीं है। मनको किसी वस्तुमें आविष्ट करनेके लिये यह आवश्यक है कि नेत्र, कान आदि समस्त इन्द्रियाँ भी केवल उसी वस्तुपर केन्द्रित हों। परन्तु हमारा मन कभी विषयोंमें विचरण करता है और कभी श्रीकृष्ण ाके विषयमें चिन्तन करता है, इसलिये यह अनियन्त्रित मन है। यही हमारी बद्ध अवस्था है। कठ-उपनिषद् (१/२/२३) में कहा गया है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

"भगवान्को तर्क, तीक्ष्ण बुद्धि या पाण्डित्यके द्वारा नहीं जाना जा सकता। जब जीवात्मा भगवान्के प्रति सेवोन्मुख होकर उनकी कृपायाचना करता है, तब उसीके निकट वे अपना स्वयंप्रकाश श्रीविग्रह प्रकट करते हैं।"

यदि हम वास्तवमें उन्हें अपना हृदय समर्पित करनेकी इच्छा करें, तो भी यह कठिन है। श्रीकृष्ण उसी हृदयको हरण करते हैं, जो उन्हें प्रिय लगता है। इसलिये हमें अपने हृदयको समस्त प्रकारसे निर्मल और शुद्ध बनाना होगा कि जब श्रीकृष्ण उसे देखें, तो उनमें उसे हरण करनेका लोभ उत्पन्न हो जाय। परन्तु केवल हृदयकी शुद्धता ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानियोंका हृदय भी शुद्ध होता है। शुद्ध हृदयमें जब भक्ति-रस बहने लगेगा, तो श्रीकृष्ण अवश्य ही आकर्षित होंगे। श्रीकृष्णने किस प्रकार एक गोपीके हृदयको चुराया, इसका यहाँ वर्णन किया जा रहा है— यह पूर्वरागमें गोपियोंकी तन्मयताका प्रसङ्ग है।

श्रीकृष्ण प्रतिदिनकी भाँति सखाओंके साथ वंशीवादन करते हुए गोचारणमें जा रहे थे। उनका वर्ण नवजलधर मेघके वर्णके समान था, घुँघराले केश उनके मुखमण्डलपर झलक रहे थे, उस समय उनका रूप अति सुन्दर और मनमोहक था। उनके सखा चारों ओरसे 'साधु! साधु' कहते हुए श्रीकृष्णकी महिमाका गान कर रहे थे और

अपनी-अपनी वंशी और शृङ्गा बजा रहे थे। जब वे इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए वनमें जा रहे थे, समस्त व्रजवासी उनके दर्शनके लिये उनके मार्गके दोनों ओर एकत्र हो गये। माँ यशोदा और नन्द बाबा श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चलते हुए कह रहे थे—"पुत्र! शीघ्र लौट आना, बहुत दूर मत जाना।" श्रीकृष्ण पुनः पुनः उन्हें शीघ्र लौट आनेका आश्वासन देते, अन्तमें जब श्रीकृष्णने प्रतिज्ञापूर्वक कहा कि वह शीघ्र आ जायेंगे, तभी नन्द-यशोदा धीरे-धीरे अपने घरको लौट गये।

व्रजमें कई नव-विवाहिता गोपियाँ आयी थीं। वे सब श्रीकृष्णकी झलक पानेके लिये अपने-अपने घरोंके द्वारपर आ गयीं। कोई-कोई गोपियाँ झरोखेसे झाँक रही थीं, कोई अटारियोंपर चढ़ी हुई थीं। श्रीकृष्ण भी अपने नेत्रोंके कोनोंसे उन्हें निहार रहे थे। एक गोपी दो-तीन दिन पहले ही विवाहित होकर आयी थी। उसने पहलेसे गोचारणमें जाते हुए श्रीकृष्णके अति मधुर रूपके विषयमें सुन रखा था। जब उसने श्रीकृष्णकी वंशी ध्वनि सुनी, तो उसका हृदय श्रीकृष्णके दर्शनके लिये व्याकुल और उत्कण्ठित हो गया। जब वह गोपी द्वारसे बाहर आयी, तो उसकी सास और ननद द्वारके बाहर ही खड़ी थीं। उन्होंने उसे श्रीकृष्णके दर्शन करनेके लिये रोका और कहा—"तुम वहाँ मत जाओ। वहाँ एक काला साँप है, यदि उसने तुम्हें डँस लिया, तो जीवन भर तुम उसके विषको नहीं उतार पाओगी। अतः तुम घरमें ही रहो, हम अभी आ रही हैं।"

उस गोपीने कहा—"तुम दोनों जाओगी और मैं यहींपर क्यों रहूँगी? मैं भी जाऊँगी।"

सासने कहा—"नहीं, तुम्हारे लिये खतरा है। तुम्हारा हृदय अभी अपक्व (कोमल) है। तुम उसके विषको उतार नहीं सकोगी, इसलिये यहीं रहो।"

व्रजकी समस्त स्त्रियाँ, वृद्ध, बालक, बालिकाएँ, पक्षी, कीट, पतङ्ग सभी श्रीकृष्णके दर्शनके लिये जा रहे थे। श्रीकृष्णको समीप आते देख उस गोपीकी सास और ननद शीघ्रतापूर्वक श्रीकृष्णकी ओर दौड़ी। जब वे दोनों चली गयीं, तो वह गोपी दरवाजेके छेदमेंसे ही श्रीकृष्ण ाको देखने लगी। वह बाहर श्रीकृष्णको देख रही थी, परन्तु कोई भी उसे नहीं देख रहा था। श्रीकृष्णकी वंशी उनके अधरोंपर थी और वे

इतनी मधुरतासे उसका वादन कर रहे थे कि उनके हृदयका अमृत उस वंशीके छिद्रोंसे निकलकर समस्त व्रजको आप्लावित कर रहा था। जिन नेत्रोंने इस रूप-माधुरीका दर्शन नहीं किया है, उन आँखोंकी क्या आवश्यकता है? जिन नेत्रोंने इस मधुर लीलाका दर्शन किया है, केवल वही कृतार्थ हैं। गोपियाँ अपने नेत्ररूपी दीपसे श्रीकृष्णकी आरती कर रहीं थी और उनके हृदयमें स्थित प्रेम घीके समान था। उनके प्रेम-प्रज्जवलित नेत्र श्रीकृष्णके चारों ओर घूम रहे थे और प्रेमपूर्ण कटाक्षों द्वारा उनकी आरती उतार रहे थे। अति आनन्दपूर्वक कुछ लज्जासहित श्रीकृष्णने उन सबके प्रेमको स्वीकार किया।

ऐसा होनेपर श्रीकृष्ण उस (नवेली वधूके) घरके द्वारकी ओर देख रहे थे। श्रीकृष्ण किसीको दर्शन दे सकते हैं और नहीं भी, क्या. ेंकि वे स्वतन्त्र भगवान् हैं, परन्तु यदि कोई वास्तवमें उनके दर्शनके लिये उत्कण्ठित है, तो श्रीकृष्ण अवश्य ही उसे दर्शन देते हैं। उस दिन वे उस नव-विवाहिता गोपीको दर्शन देना चाहते थे। श्रीकृष्णने युक्तिपूर्वक एक बछड़ेकी पूँछ पकड़कर इस प्रकार मरोड़ी कि बछड़ा कूदता-फाँदता सीधा उस गोपीके घरके द्वारपर जा पहुँचा।

श्रीकृष्ण भी बछड़ेके पीछे-पीछे वहाँ पहुँच गये। पल भरके लिये श्रीकृष्णने वहाँ अपनी वंशीको अपने अधरोंपर रखकर उस गोपीको अपने परम मनोहर त्रिभङ्ग रूपका दर्शन दिया। बस फिर क्या था, उस गोपीका हृदय अब उसके पास न रहा, उसे श्रीकृष्णने चुरा लिया और वे पुनः अपने सखाओंके दलमें सम्मिलित हो गये। श्रीकृष्ण ाके जगत्-विमोहक रूपके दर्शन प्राप्तकर वह गोपी बाह्य-ज्ञान रहित होकर वहीं स्थिर हो गयी। श्रीकृष्ण सखाओंके साथ वनमें प्रवेश कर गये और गायोंके खुरों द्वारा उड़ने वाली धूल भी अब बैठ चुकी थी। बहुत समय बीत गया, किन्तु वह गोपी अब भी उसी स्थानपर पुतलेकी भाँति स्थिर होकर खड़ी थी, क्योंकि उसका हृदय और मन उसके पास नहीं था, वह असहाय हो चुकी थी।

उसकी सास जब वहाँ आयी, तो उसके शरीरको झकझोरते हुए उसने कहा—"वही हुआ, जिसका मुझे भय था। उस काले सर्पने तुम्हें डँस लिया।" उसका मन कहीं और जाय, इसलिये सासने उसे आदेश दिया कि तुम मटकेमें रखी दहीसे मक्खन निकालो। उस नववधूने

दहीका मटका समझकर सरसोंके मटकेको उठा लिया, क्योंकि अब भी वह पूर्ण चेतन नहीं हुई थी। उसी सरसोंको दही समझकर वह मथने लगी। पूर्ण बाह्य-ज्ञान नहीं होनेके कारण कभी वह सरसों मथने लगती, तो कभी रुक जाती। इसलिये कभी तो कर्कश ध्वनि होती और कभी वह ध्वनि बन्द हो जाती। जब उसकी सासका ध्यान इधर आया, तो उसने सरसों मथना बन्द करवा दिया। सासने उसके सिरपर एकके बाद एक पानीके तीन मटके रख दिये, हाथमें पानी भरनेके लिये रस्सी और गोदमें एक छोटा बच्चा दे दिया और कहा कि कुएँसे पानी भर लाओ। वह नववधू पानी भरनेके लिये कुएँपर गयी, किन्तु अपनी स्वभाविक दशामें नहीं होनेके कारण उसने घड़ेको नीचे रख दिया और वह घड़ेके स्थानपर उस बच्चेके गलेमें रस्सी लगाने लगी। निकट ही पानी भरनेवाली अन्य गोपियोंने हाय! हाय! कहते हुए उसके हाथको पकड़ लिया। वे कहने लगीं—"इसे क्या हो गया? लगता है इसे भूत लग गया।" कुछ अन्य गोपियाँ, जो जानती थीं, उन्होंने कहा—"भूत नहीं! इसे नन्दका पूत लग गया है।"—यह है *'मन्मना भव'* का उदाहरण।

उस गोपीने इसी सौभाग्यको प्राप्त करनेके लिये लाखों वर्षों तक तपस्या की थी, और उस दिन वह पूर्णरूपसे कृतार्थ हुई।

श्रीकृष्णमें ही अपने मनको पूर्ण रूपसे लगाना ही 'मन्मना भव' होना है। श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखसे इसका आदर्श उदाहरण गोपियोंको ही स्वीकार किया है। श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा–

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥

(भागवत १०/४६/४-६)

"प्यारे उद्धव! गोपियोंका मन सदा-सर्वदा मुझमें निमग्न रहता है, मैं ही उनका प्राण और जीवन-सर्वस्व हूँ। मेरे लिये ही उन्होंने घर-बार,

पति-पुत्र, सगे-सम्बन्धी, लोक-लज्जा, धर्म आदि सब कुछ छोड़ा है। वे नित्य-निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहती हैं। 'मैं आऊँगा'— केवल मेरी इस बातपर विश्वासकर बड़े कष्टसे किसी प्रकार अपने प्राणोंको धारणकर मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं।"

श्रीकृष्ण विरहमें व्याकुल गोपियाँ ही 'मन्मना भव' की सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

गीताके अन्तमें श्रीकृष्ण 'मन्मना भव' श्लोकको अवतारणा करते हुए जब वे कहते हैं कि सर्वदा मेरा ध्यान करो, तब वे अपने कामदेवको भी मोहित करनेवाले श्यामसुन्दर स्वरूपकी ओर इंगित करते हैं। उनके काले घुंघराले केश बहुत सुन्दर हैं और उन्होंने अपने मस्तकपर मोर पंख धारणकर रखा है, वे वृन्दावनमें कदम्ब वृक्षके नीचे बने कुञ्जमें अपनी त्रिभङ्ग ललित मुद्रामें खड़े हैं, उनके सुन्दर अधरोंपर वंशी विराजित है और उसके छिद्रोंमें अपने हृदयका अमृत उड़ेल रहे हैं। उनका यह त्रिभुवनमोहक रूप ही उनकी भगवत्ताकी पराकाष्ठा है। इस श्लोकके पूर्व श्रीकृष्णने केवल अपने ऐश्वर्यमय नारायण स्वरूपका ही प्रकाश किया था।

यही सर्वगुह्यतम सम्पत्ति, 'परमं वचः' अर्थात् गीताका सर्वोपरि उपदेश है। यदि कोई केवल इसी श्लोकका उत्साह और गम्भीरतासे अनुशीलन करे, तब वह निश्चित रूपसे भवसागरको पार करके श्रीकृष्ण ाके चरणकमलोंमें प्रेम प्राप्त करेगा। इस श्लोकमें सूत्र रूपसे व्रजभक्तिकी प्राप्तिका उपाय बताया गया है। व्रजमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताके ऐश्वर्य ज्ञानको व्रजवासियोंकी माधुर्यमयी सेवा आच्छादित कर देती है और वे केवल उन्हें अपना बन्धु ही मानते हैं। व्रजकी भक्ति अनुपम है, केवल व्रजमें ही श्रीकृष्ण अपने भक्तोंके प्रेम-बन्धनमें बन्ध जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें इसका विस्तृत रूपसे वर्णन किया गया है। गीताके उपदेश भक्तिके महलकी सुदृढ़ नींवका निर्माण करते हैं।

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामीके द्वारा सम्पादित ग्रन्थ (हिन्दी)

१. श्रीश्रीभागवत पत्रिका
२. अर्चन दीपिका
३. हरिनाम महामन्त्र
४. श्रीउपदेशामृत
५. जैवधर्म
६. भजन रहस्य
७. श्रीमनः शिक्षा
८. भक्तितत्त्व-विवेक
९. श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा
१०. श्रीचैतन्य-शिक्षामृत
११. श्रीशिक्षाष्टक
१२. रागवर्त्म-चन्द्रिका
१३. श्रीवैष्णव-सिद्धान्त-माला
१४. भक्तिरसामृतसिन्धु-बिन्दु
१५. उज्ज्वलनीलमणि-किरण
१६. भागवतामृत-कणा
१७. ब्रह्मसंहिता
१८. श्रीगौड़ीय-कण्ठहार
१९. मायावादकी जीवनी
२०. माधुर्य कादम्बिनी
२१. श्रीमद्भागवतीय वेणुगीत
२२. व्रजमण्डल परिक्रमा
२३. श्रीनवद्वीप-धाम परिक्रमा
२४. प्रबन्ध पञ्चकम्
२५. श्रीगौड़ीय-गीतिगुच्छ
२६. सत्क्रियासार-दीपिका
२७. गीत-गोविन्द
२८. श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्
२९. श्रीरासपञ्चाध्यायी
३०. श्रीसङ्कल्पकल्पद्रुमः
३१. श्रीश्रीचमत्कारचन्द्रिका
३२. उज्ज्वलनीलमणिः
३३. श्रीश्रीदामोदराष्टकम्
३४. श्रीश्रीप्रेमसम्पुटः
३५. श्रीगौरगणोद्देश-दीपिका
३६. श्रीभागवतार्कमरीचिमाला
३७. श्रीमद्भागवतीय चतुःश्लोकी
३८. आत्माके छिपे रहस्य
३९. श्रीकृष्णलीलामृत भाग-१
४०. श्रीरायरामानन्द संवाद
४१. श्रीमद्भगवद्गीता सार
४२. प्रेम प्रदीप
४३. शिवतत्त्व
४४. उत्कलिकावल्लरी
४५. श्रीजगन्नाथ रथ-यात्रा
४६. श्रीचैतन्यचरित-पीयूष
४७. श्रीमद्भागवतम् (१-४ स्कन्ध)
४८. नामाचार्य श्रील हरिदास ठाकुर
४९. श्रीमद्भगवद्गीता (श्रील विश्वनाथ ठाकुर कृत टीका सहित)
५०. श्रीचैतन्य महाप्रभुके स्वयं-भगवत्ता प्रतिपादक कतिपय शास्त्रीय प्रमाण
५१. श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी जीवनी
५२. श्रीश्रीराधाकृष्णगणोद्देश-दीपिका
५३. चार वैष्णव आचार्य एवं गौड़ीय-दर्शन